• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ।

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति-मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंचनकर ।

वर्ष ११ | गौराब्द ४८०, मास—विष्णु ७, वार—संकर्षण, सोमवार, ३० फाल्गुन, सम्वत् २०२२, १४ मार्च, १९६६ | संख्या ९-१०

श्रीश्रीगोविन्ददेवाष्टकम्

[श्रील-विश्वनाथ-चक्रवर्त्ति ठक्कुर-विरचितम्]

आम्नेडदोष्णीष-विराजि-मुक्तामाला - मणि-द्योति-शिखण्डकस्य ।
भङ्ग्या नृणां लोलुपयन् दृशः श्रीगोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥१॥

कपोलयोः कुण्डल-लास्य-हास्यच्छविच्छटा चुम्बितयोर्वेणेन ।
संमोहयन् संभजतां धियः श्रीगोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥२॥

स्व प्रेयसी - लोचनकोण-शीघ्र - प्राप्त्यै पुरोवर्ति - जनेक्षणेन ।
भावं कमप्युद्गमयन् बुधानां गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥३॥

वामप्रगण्डार्पित - गण्डभास्वत् - ताटङ्क - लोलक- कान्तिसिक्तैः ।
भ्रूवल्गनैरुन्मदयन् कुलस्त्री - गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥४॥

दूरे स्थितास्ता मुरली-निनादैः स्व - सौरभैर्वृंद्रित - कर्णवालीः ।
नासारुधो हृद्गत एव कर्षन् - गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥५॥

नवीन - लावण्य - भरैः क्षितौ श्रीरूपानुरागाम्बु-निधि-प्रकाशैः ।
सतश्चमत्कारबतः प्रकुर्वन् गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥६॥

कल्पद्रुमाधो मणि - मन्दिरान्तः - श्रीयोगपीठाम्बुरुहास्थया स्वं ।
उपासयंस्तन्त्रविदोऽपि मन्त्रे - गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥७॥

महाभिषेकक्षण - सर्ववासोऽलंकृत्यनङ्गीकरणोच्छलन्त्या ।
सर्वाङ्ग - भासाकुलयंश्चिलोकीं गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥८॥

गोविन्द - देवाष्टकमेतदुच्चैः पठेत्तदीयाङ्घ्रि - निविष्टधीर्यः ।
तं मज्जयन्नेव कृपाप्रवाहे - गोविन्ददेवः शरणं ममास्तु ॥९॥

अनुवाद—

जो अपने मस्तकपर जम्बूनदीसे निकले हुए सुवर्णद्वारा निर्मित किरीटको सदैव धारण किये रहते हैं तथा उसमें जो मुक्तमाला सुशोभित होती है, उसमें पिरोयी हुई मणियोंकी घटासे रंजित मयूर-पुच्छोंकी भंगीसे जो सब लोगोंके नेत्रोंको लुभा लेते हैं, वे श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हो ॥१॥

जो, कुण्डलोंके नृत्य और हास्य शोभाकी छटासे चुम्बित अपने दोनों कपोलोंद्वारा अपने भक्तोंके मन को मोहित किया करते हैं, वे गोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥२॥

जो अपनी प्रियतमाओंके कटाक्ष - मधुको पानेके लिये (कहीं दूसरे लोग देख न लें, इस आशंकासे) आगे खड़े व्यक्तिकी ओर दृष्टिपात किया करते हैं और उससे रस तत्त्वाभिज्ञ भक्तोंके हृदयमें किसी एक अनिर्वचनीय भावका संचार करते हैं, वे श्री-गोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥३॥

जो बांये हाथकी जड़पर अर्थात् बांये कन्धेपर अपना कपोल रखे हुए हैं तथा उससे दीप्तिशाली कुण्डलों तथा नाकमोतीकी कान्तिसे युक्त भ्रुभंगी-द्वारा कुलरमणियोंको उन्मत्त किया करते हैं, वे श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥४॥

मुरलीध्वनिके सुननेसे प्रेम-वैकल्य होनेकी आशंका से अपने कानोंके छिद्रोंको बन्द कर दूर स्थित गोपियों को जो मुरली-ध्वनिसे तथा कृष्णके अङ्गोंके सौरभसे प्रेमोन्माद उत्पन्न होनेके भयसे नाकके छिद्रोंको बन्द रखनेवाली व्रजाङ्गनाओंको जो अपने अङ्ग-सौरभ के माध्यम से उनके हृदयके भीतर पहुँच कर उनको आकर्षित करते हैं, वे श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥५॥

इस पृथ्वीमें श्रीरूप गोस्वामीके अनुराग-समुद्रमें प्रकाशित अपनी उन सारी कान्तियों द्वारा जो अपने भक्तोंको अनिर्वचनीय आनन्दमें निमग्न कर देते हैं, वे श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥६॥

जो, कल्पवृक्षके नीचे मणिमय मन्दिरके भीतर योगपीठस्थ कमलके ऊपर विराजमान होकर आगम-शास्त्रज्ञ अपने भक्तोंसे भी अपने मन्त्रमें स्वयं ही अपनी उपासना करवा लेते हैं, वे श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥७॥

जो महाभिषेकके समय अपने वस्त्रों तथा उत्तरीय और पगड़ी आदि आभरणोंको त्याग देनेके हेतु अपने खुले हुए समस्त अङ्गोंकी इतस्ततः प्रसारित सम्पूर्ण कान्ति द्वारा त्रिभुवनको व्याकुल कर दिया करते हैं, वे श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥८॥

जो व्यक्ति श्रीगोविन्ददेवके चरणयुगलमें अपने मनको भलीभाँति निविष्ट करके श्रीगोविन्द देवके इस अष्टकको उच्चस्वरसे नित्य पाठ करते हैं, उन्हें श्रीगोविन्ददेव निश्चय ही अपने कृपा प्रवाहमें निमग्न कर देते हैं, ऐसे कृपासिन्धु श्रीगोविन्ददेव मेरे आश्रय हों ॥९॥

कृष्णमें भोगबुद्धि

श्रीकृष्ण स्वयं भोक्ता हैं, वे किसी के भी भोग्य नहीं हैं। श्रीकृष्णके नित्य भोग के लिए उनसे अनन्त परिकरगण प्रकटित हुए हैं। परिकरोंका एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्ण-सेवा ही है।

कृष्ण नित्य-वस्तु हैं। उनके भोगकी वस्तुएँ भी नित्य हैं। समस्त ईश्वरता उनकी शक्ति है और विभिन्न ईश्वरसमूह उनके दास हैं। सभी ईश्वर अपने अधीन व्यक्तियों के साथ कृष्णकी सेवा करते हैं। कृष्ण परमेश्वर हैं।

कृष्ण आनन्दके आस्वादनकारी अर्थात् रसमय हैं। वह रस नित्य, अखण्ड और चिन्मय है। वे संवेत्ता या ज्ञाता हैं। आनन्दमय रस ही उनका ज्ञेय है। रसास्वादन-धर्म नित्य है। नश्वरता या कालके किसी भी आक्रमणका उन्हें सामना नहीं करना पड़ता। असुरमोहनके लिए, निर्बोध व्यक्तियों के बुद्धिनाशके लिए उन्होंने अपनी माया शक्तिमें दो प्रकारकी वृत्तियाँ स्थापित की हैं। जीव यदि ईश्वर अथवा परमेश्वर कृष्ण होता, तो उसमें आसुरिक प्रवृत्ति नहीं होती। असुरका धर्म—कृष्णविमुखता या विषय-दासता है। माया नामक बहिरंगा शक्ति अपनी विक्षेपात्मिका और आवरणात्मिका वृत्तियोंके द्वारा कृष्णविमुख जीवको कृष्णसेवासे दूर करती हैं और उनके नित्य हरिसेवा वृत्तिको आवृत करती हैं। उस समय जीव आसुर धर्मको ही अपना स्वधर्म मानकर हरिकी तरह ईश्वरता या भोगोंमें प्रमत्त होकर वस्तुमात्रको ही भोग करना आरम्भ करते हैं। माया शक्तिके प्रभावसे भोग करनेकी उपयुक्त वृत्तियाँ रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शाकारसे भोगी व्यक्तिके सन्मुख उपस्थित होती हैं। मायाशक्ति जीवोंको विषय भोग का प्रलोभन देकर हरिविमुख कर देती हैं। बद्धजीव कृष्णविमुखताके द्वारा ऐसी दुर्दशामें पड़ जाते हैं कि भोग व्यतीत उनका और कोई सहारा नहीं रहता। यदि कोई कृष्णकथा कहें, तो वे हरिकथाको भी अपना भोग्य विषय समझकर कृष्णको भी भोग करनेके लिए व्यस्त हो जाते हैं। परन्तु कृष्णमें भोगका सुयोग न होनेके कारण ऐसी चेष्टासे वे अंत तक विफल मनोरथ होते हैं। बद्धजीव माया-शक्तिके द्वारा आवृत और विक्षिप्त होने पर भोग करनेके लिये सर्वदा कातर हो उठता है। अतएव वे हरिकी सेवा करनेके बदले कृष्णको भृत्य बनानेकी चेष्टामें भटकते फिरते हैं। किन्तु कृष्ण भोगी बद्ध-जीवोंके दास कदापि नहीं हो सकते। अतएव अन्त तक जीवकी ऐसी दुराशा कभी भी पूरी नहीं होती।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु और उनके अनुचरोंने कृष्ण सेवा करनेका उपदेश दिया है। भोगी जीव उसे भूलकर कर्मफलकी वशवर्त्तिताको कृष्ण सेवा मान-कर भ्रान्तिमें पड़ जाते हैं। कुछ जीव आचार्य और उपदेशकका पद ग्रहण करने पर भी कृष्ण सेवासे वंचित होते हैं। वे समस्त जीवोंको मोहित कर आसुरिक वृत्तिको ही हरिसेवा कहकर प्रचार कर भोगोंमें प्रमत्त रहते हैं, और जगतको भोगी बना कर उसे कृष्णविमुख करते हैं।

साधारण लोगोंकी ऐसी धारणा होती है कि कृष्णविमुखता ही भक्ति है। उनकी भोगमयी धारणाको दूर करनेके लिए सर्वदा हरिकीर्त्तन करनेकी आवश्यकता है। किन्तु हम भी भोगबुद्धिविशिष्ट जीवोंकी भाँति उपदेशक बनकर जितना ही हरिकीर्त्तन क्यों न करें, हरिविमुख जीव कृष्णमें भोगबुद्धि ही करेंगे और विषयमें अभिनिविष्ट रहेंगे। दुष्प्रचारक, दुराचारसम्पन्न आचार्यब्रुवगण कुबुद्धिके वशीभूत होकर कृष्णको भोग्यवस्तुके रूपमें प्रचार करनेके कारण आजकल साधारण लोगोंका भक्तिके स्वरूपोपलब्धिमें अधिकार प्राप्त नहीं होता। इन आचार्यब्रुवोंको ही इस सामाजिक दुर्दशाका कारण कहा जा सकता है। जिनकी जड़भोगस्पृहा अत्यन्त प्रबल है, उनमें हरिसेवा-प्रवृत्ति नहीं रह सकती। इसलिए प्रत्येक निजकल्याण-प्रार्थी और समाजहितैषी व्यक्तिमात्रको सर्वतो भावेन इसी बातके लिए यत्न करना उचित है जिससे कि भोगियोंके शिष्य बननेवाले व्यक्ति उपदेशक आचार्य का कार्य नहीं कर सकें। जब तक जीवमें भोक्तापन का अभिमान रहेगा, तब तक उनका क्लेश दूर नहीं हो सकता। हरि—सेव्यवस्तु हैं, उनकी सेवा करनेसे अपनी भोगबुद्धि नहीं रह सकती। सेवाके अभावसे ही भोगका उदय होता है। जो वस्तु कृष्ण नहीं है, उसीको जीव भोग करते हैं। इसलिए रावणकी तरह सीता-हरण कार्यमें व्यस्त रहकर जड़ भोग्य वस्तु-ज्ञानसे हरिसेवाको साधारण कर्ममात्र समझना अनुचित है। कृष्णसेवा आत्मधर्म है, वह भोग-प्रवृत्ति की तरह अनात्मधर्म नहीं है। इसमें परस्पर साम्य दीखने पर भी दोनोंका वैशिष्ट्य नित्य वर्त्तमान है।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(श्रीकृष्णनाम-तत्व)

१. कृष्णनाम क्या वस्तु है ?

"शुद्धसत्त्वतत्त्वगत अखण्डरस कृष्णादि नामके रूपमें पुष्पकलिकाकी तरह कृष्णकी कृपासे विश्वमें प्रचारित हुए हैं।"

—'भजन-प्रणाली', ह. चि.

२—वेदके उपदेशोंमें कौनसा उपदेश सर्वश्रेष्ठ है ?

"वेदशास्त्रमें जो सभी उपदेश दिये गये हैं, उनमें हरिनाम-उपदेश ही सबसे श्रेष्ठ है।"

—जै. ध. २४ वाँ अ.

३. नाम-भजन एक ही साथ साध्य और साधन कैसे है ?

"परमेश्वरका प्रसाद ही सर्वजीवोंका चरम उपेय या साध्य है। कर्म अथवा ज्ञान उस उपेय या साध्य

के मुख्य साधन नहीं हैं। क्योंकि उपेयके निकट पहुँचने पर वे स्वरूपतः लुप्त हो जाते हैं। नाम-साधन वैसा नहीं है। श्रीनाम भगवान् से अभिन्न हैं; इसलिये साध्य या उपेय रूपसे और साधन या उपाय रूपसे नाम स्वयं ही वर्त्तमान हैं।"

—'नाम माहात्म्य-सूचना', ह. चि.

४. भगवानके नाम कितने प्रकारके हैं? नामके सम्बन्धमें मुख्य और गौण विचार क्या उचित है?

"भगवानके नाम दो प्रकारके हैं—मुख्य और गौण। जगत सृष्टिके द्वारा मायागुण अवलम्बन-पूर्वक जो सब नाम प्रचलित हैं, वे सभी गौण या गुण-सम्बन्धी नाम हैं। जैसे—'सृष्टिकर्त्ता', 'जगत्पाता', 'विश्वनियन्ता', विश्वापालक' 'परमात्मा' आदि बहुतसे गौण-नाम हैं। मायागुणके व्यतिरेक सम्बन्धमें 'ब्रह्म' आदि कुछ नाम भी गौण-नामोंके अन्तर्गत हैं। इन सभी गौण-नामोंमें बहुतसे फल रहने पर भी साक्षात् चित्फलका सहसा उदय नहीं होता। भगवानके चिद्धाममें मायिक काल और देश से अतीत जो नाम समूह नित्य वर्त्तमान हैं, वे ही मुख्य और चिन्मय नाम हैं। जैसे—'नारायण', 'वासुदेव', 'जनार्दन', 'ऋषिकेश' 'हरि', 'अच्युत', 'गोविन्द', 'गोपाल' आदि सभी मुख्य नाम हैं। ये सभी नाम चिद्धाममें भगवत्स्वरूपके साथ ऐक्य भावसे नित्य वर्त्तमान हैं।"

—जै. ध. २३ वाँ अ.

५. 'कृष्ण' नामका वैशिष्ट्य क्यों है?

"कृष्ण'—यह नाम ही उनका प्रेमाकर्षण-लक्षण परम सत्ता-वाचक नित्य नाम है।"

—अ. स. ५।१

६. कृष्णका प्रथम परिचय क्या है?

"कृष्णनाम ही कृष्णका प्रथम परिचय है। कृष्ण-प्राप्तिके संकल्पसे जीवोंको कृष्णनाम करना चाहिये।"

—चै. शि. ६।४

७. नाम क्या आभिधानिक शब्द नहीं है? क्या जड़ जिह्वासे नामका उच्चारण नहीं होता?

"जड़जगतमें हरिनामका जन्म नहीं है। चित्-कणस्वरूप जीव शुद्धस्वरूपमें अवस्थित होकर अपने चिन्मय शरीरसे हरिनाम उच्चारणके अधिकारी हैं। जगत्में मायाबद्ध होकर जड़ेन्द्रियद्वारा जीव शुद्ध नामका उच्चारण नहीं कर सकते, किन्तु ह्लादिनी शक्तिकी कृपासे जब स्व-स्वरूपकी क्रिया आरंभ होती है, उसी समय उनका नामोदय होता है। उस नामोदयमें शुद्धनाम कृपापूर्वक मनोवृत्तिमें अवतीर्ण होकर भक्तकी भक्तिकृत जिह्वा पर नृत्य करते हैं। नाम अक्षराकार नहीं हैं, केवल जड़जिह्वा पर नृत्य करनेके समय वर्णाकारमें प्रकाशित होते हैं—यही नामका रहस्य है।"

—जै. ध. २३ वाँ अ.

८. युग युगमें तारकब्रह्मनामका वैचित्र्य क्यों देखा जाता है?

"पूर्व पूर्व शास्त्रकारोंने भगवद्भावके उदयकाल से लेकर अब तक जिस क्रमोन्नतिका वर्णन किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न युगोंके तारक ब्रह्मनाम भी भिन्न-भिन्न हैं।"

९. सत्ययुगका तारकब्रह्मनाम क्या है और उसका क्या अर्थ है?

"सत्ययुगका तारक ब्रह्मनाम–

नारायणपरा वेदा नारायणपराक्षरा।
नारायणपरा मुक्तिर्नारायण परा गति॥

अर्थात्–विज्ञान, भाषा, मुक्ति और चरमगति–इन सभी विषयोंके एकमात्र प्रतिष्ठा श्रीनारायण हैं। ऐश्वर्यगत परब्रह्मका नाम ही श्रीनारायण है। वैकुण्ठ और वहाँ स्थित पार्षदोंमें नारायणरूप भगवद्भाव सम्पूर्ण रूपसे देखा जाता है। इस अवस्थामें शुद्ध शान्तरस और कुछ अंशोंमें दास्यरसका उदय देखा जाता है।"

–'उपक्रमणिका', कृ. सं.

१०. त्रेतायुगका तारकब्रह्मनाम क्या है और उसका क्या तात्पर्य है?

"त्रेतायुगका तारकब्रह्मनाम है–

राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।
कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन॥

इस तारकब्रह्मनाममें जिन सभी नामोंका उल्लेख है, उनमें ऐश्वर्यगत नारायणके विविध विक्रमोंको सूचित किया गया है। यह सम्पूर्ण दास्यरसपर है और इसके कुछ अंशोंमें सख्यका आभास भी पाया जाता है।"

–'उपक्रमणिका', कृ. सं.

११. द्वापरयुग तारकब्रह्मनाम क्या है और उसका क्या अर्थ है?

"हरे मुरारे मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

यही द्वापरयुगका तारकब्रह्मनाम है। इसमें जिन नामोंका उल्लेख है, उनमें निराश्रित जनोंके आश्रय-रूप कृष्णको लक्ष्य किया गया है। इसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-इन चार रसोंका प्राबल्य देखा जाता है।"

–'उपक्रमणिका', कृ. सं.

१२. कलियुगका तारकब्रह्मनाम क्या है और उसका क्या तात्पर्य है? कलियुगका तारकब्रह्म-नाम है–

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

यही सर्वापेक्षा माधुर्यपर तारकब्रह्मनाम है। इसमें प्रार्थना नहीं है, परन्तु ममतायुक्त समस्त रसों की उद्दीपकता इसमें है। इसमें भगवानके किसी प्रकारके विक्रम या मुक्तिदातृत्व का परिचय नहीं है। आत्मा परमात्माके द्वारा किसी एक अनिर्वचनीय प्रेम-सूत्रमें आकृष्ट है––यही इसमें व्यक्त है। अत-एव माधुर्यपर भक्तोंके लिये यही नाम एकमात्र मंत्र-स्वरूप है। इसका सर्वदा अनुशीलन करना ही एकमात्र उपासना है। सारग्राही व्यक्तियोंकी इज्या (पूजा) व्रत, अध्ययन इत्यादि समस्त पारमार्थिक अनुशीलन ही इस नामके अनुगत हैं। इसमें गुरू-पदेश, पुरश्चरण इत्यादि किसी भी अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं है। पूर्वोक्त बारह मूलतत्त्वोंपर अव-लम्बन करते हुए इस नाममन्त्रका आश्रय ग्रहण करना सारग्राही व्यक्तियोंका परम कर्त्तव्य है।"

–'उपक्रमणिका', कृ. सं.

(क्रमशः)

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(श्रीकृष्ण-सन्दर्भ ४)

श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"उज्जहारात्मनः केशौ सित-कृष्णौ महामुने ।" जब देवताओंने पृथिवी के भारहरणार्थ भगवान् विष्णुसे प्रार्थना की, तब उन्होंने अपने सिर से दो केश उखाड़े—एक शुक्ल और दूसरा कृष्ण । वे दोनों केश यदुकुलवधू देवकी और रोहिणीके गर्भमें प्रवेश किये । शुक्ल केश बलदेव और कृष्ण केश कृष्णचन्द्र हुए थे । इससे कई लोगोंकी ऐसी धारणा हो सकती है कि श्रीबलदेव और श्रीकृष्ण विष्णुके अंश और केशावतार हैं । इस विषयमें श्रीधर-स्वामीके (भा० १।७।२६) श्लोक की टीकाका तात्पर्य यह है—बुढ़ापेके कारण केशोंका शुक्लत्व सम्भव है, परन्तु भगवान् अविकारी हैं, वयसाधिक्यसे उनमें विकारका होना अर्थात् केशों का पकना सम्भव नहीं है । विष्णुपुराणमें जो केश उखाड़नेकी बात कही गयी है, उसका तात्पर्य केश आविर्भावसे नहीं है, बल्कि 'भूभार हरण क्या इतना बड़ा कार्य है, जिसके लिए मुझे अवतार लेना पड़ेगा ? मेरे केश भी उसे कर सकते हैं ।' इसे प्रकाश करनेके लिए और श्रीकृष्ण-बलरामके वर्णकी सूचना देनेके लिए ही केशोद्धार किया गया था । यहाँ यही तात्पर्य सम्भव है—'हे देवगण ! आप लोग मुझे अवतीर्ण करनेके लिए क्यों आग्रह कर रहे हैं ? मैं श्वेतद्वीपस्थ अनिरुद्धाख्य पुरुष विशेषमात्र हूँ, मेरे शिरोधार्य (जिस प्रकार मस्तकमें केशको धारण किया जाता है, वैसे ही मेरे अत्यन्त पूज्य, मेरे अंशी) श्रीबलराम और श्रीकृष्ण स्वयं आविर्भूत होंगे ।'

जो व्यक्ति 'सित-कृष्ण केश' शब्दोंका अर्थ शुक्ल-कृष्ण केश करते हैं, उनका ऐसा विचार युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि देवतामात्र ही जरावर्जित हैं । श्रीक्षीरोदशायी विष्णु ईश्वर हैं, कालके द्वारा बुढ़ापे के कारण उनके केशका पकना सम्भव नहीं है । श्रीकृष्ण ही साक्षात् आदिपुरुष हैं-इसके कई ठोस प्रमाण हैं । कृष्ण-विष्णु आदि शब्दोंमें जिस अर्थकी प्रतीति होती है, उस अर्थमें कोई वैशिष्ट्य देखा नहीं जाता । श्रीभगवान ही इन सब शब्दोंके वाच्य हैं । श्रीमद्भागवतमें कहीं-कहीं कृष्णचन्द्रको 'विष्णु' कहा गया है । श्रीकृष्णके जन्म दिनको ही जयन्ती कहा जाता है, अन्य किसी अवतारकी जन्म तिथिको भी जयन्ती कहा नहीं जाता । मनुष्योंके लिए तो जयन्ती शब्द व्यवहार करना अत्यन्त अपराधजनक है ।

देवकीदेवीकी उक्ति (भा० १०।३।२६ श्लोक) से यह जाना जाता है कि भगवान कालके द्वारा विकारको प्राप्त नहीं होते—

> योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो-
> चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
> निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं-
> त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥

अर्थात् 'हे प्रकृति-प्रवर्त्तक भगवन् ! निमेषादि-वत्सर तक विभागानुसारसे द्विपरार्द्ध वत्सररूप काल—जिसके द्वारा इस विश्वका परिवर्त्तन होता है, तत्त्वज्ञ पण्डित लोग उसे आपकी लीलामात्र बतलाते हैं ।

अर्थात् यह काल आप ही की लीलाव्यक्तिकारिणी शक्ति है। अतएव आपको ही एकमात्र अभयदाता जानकर मैं आपके शरणापन्न हुई हूँ।' यहाँ पर देखा जाता है कि काल भगवानके अधीन है, भगवान कालके अधीन नहीं हैं। विष्णु सहस्रनाम भाष्यमें कहा गया है—

अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्माहुर्मुनिसत्तम॥

अर्थात् 'मुझमें विद्यमान समस्त ज्योतिः का नाम केश है। अतएव सर्वज्ञ मुनिगण मुझे केशव कहते हैं। केश शब्दका अंशु (तेज) अर्थ होनेसे उक्त शुक्ल-कृष्ण ज्योतिः वासुदेव संकर्षणके अवतार की सूचनाके लिए निर्दिष्ट होता है। अनिरुद्धमें इस तेजका होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अवतार अवतारीके तेजके अन्तर्भुक्त है।

यहाँ 'उज्जहार' शब्दका अर्थ है 'उखाड़ कर या प्रकट कर दिखाना।' जैसे अखण्ड सुमेरु पर्वतको दिखलानेके लिए अंगुलीसे निर्देश कर उसका केवल एकदेश दिखाया जाता है, वैसे ही श्रीबलराम और श्रीकृष्णका किंचित्मात्र शुक्ल-कृष्ण तेज दिखलाकर परिपूर्ण-स्वरूप-दोनोंके आविर्भावकी सूचना दी गयी है। इस प्रसङ्गमें महाभारतका श्लोक उल्लेखयोग्य है—

स चापि केशो हरिरुज्जहार-
शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम्।
तौ चापि केशवविज्ञातौ मधूना-
कृष्णौ जिष्णो रोहिणी देवकीच॥

यहाँ 'उज्जहार' का अर्थ 'योगबलसे अपनेसे अलग कर दिखलाया' है। अंशमें अंशीका तेज विद्यमान रहता है, अतएव श्वेतद्वीपपतिने उक्त दोनों ज्योतियोंको प्रकाशित किया था।

भूभारहरण और जगतपालन श्रीविष्णुका कार्य है, वह श्रीबलराम और श्रीकृष्णका कार्य नहीं है। अतएव यही जानना चाहिए कि श्रीविष्णु बलराम और कृष्णमें प्रवेश कर गये।

हरिवंशमें कहा गया है—क्षीरोदशायी विष्णुने किसी पर्वतकी गुफामें अपनी मूर्त्तिको रखकर वहाँ गरुड़को रखवालीके लिये रखकर स्वयं देवकीके गर्भ प्रवेश किया। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं भगवान श्रीकृष्णने अपने आविर्भावके समय श्रीक्षीरोदशायी विष्णुके तेजको आकर्षण किया था। प्रकट समयमें श्रीकृष्णमें समस्त स्वरूपोंका प्रवेश हुआ था। इससे यही जाना जाता है कि वे स्वयं—भगवान् या परिपूर्ण-स्वरूप हैं। अप्रकट लीलामें ये सभी स्वरूप स्वतंत्ररूपसे विराजमान रहते हैं। फिर भी श्रीकृष्ण की पूर्णताको कोई हानि नहीं पहुँचती। श्रीकृष्ण सर्वाश्रय हैं, निखिल भगवत् स्वरूप हैं। जीव, जगत् आदि सभी कुछ उन्हींसे आविर्भूत हुए हैं और उन्हींमें अवस्थान कर रहे हैं। श्रीकृष्णसे स्वतंत्र रूपमें अवस्थान करना किसीके लिए भी सम्भवपर नहीं है। आविर्भावके समय उनमें अन्यान्य स्वरूपों के प्रवेश करनेका तात्पर्य यही है—उनके अप्रकट कालमें विभिन्न भगवत स्वरूपों द्वारा जगत् सम्बन्धी विभिन्न कार्य सम्पादित होते हैं और स्वयं-श्रीकृष्ण अपने परिजनोंके सहित विभिन्न लीलारस आस्वादन

में रत रहते हैं। प्रकट लीलामें समस्त स्वरूपोंका कार्य वे स्वयं करनेके कारण समस्त स्वरूपोंका उनमें प्रवेश हो जाता है। उस समय ये सभी स्वरूप स्वतंत्ररूपसे अवस्थान नहीं करते—ऐसी बात नहीं है। उस समय भी वे अपने-अपने धाममें स्व-स्वरूप से अवस्थान करते हैं, तब युगपत् अवतारोंकी शक्ति और अपनी स्वयं-भगवत्ता एकमात्र श्रीकृष्णद्वारा प्रकाशित होनेके कारण सर्व अवतारोंका श्रीकृष्णमें प्रवेश करनेकी बात बतलाई गई है।

पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें कहा गया है कि नृसिंह, राम और कृष्णमें षडैश्वर्यकी परिपूर्णता है। इसलिए श्रीकृष्ण साधारण अवतार नहीं हैं। इन तीनोंमें पहले श्रीनृसिंह, उसके पश्चात् श्रीराम, और सबसे अन्तमें श्रीकृष्णका उल्लेख किया है, अतएव श्रीकृष्णकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। विष्णु-पुराणमें जय-विजयका हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु जन्मोंमें विष्णुके द्वारा निहत होने पर मुक्ति क्यों नहीं हुई? और शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें श्रीकृष्णके द्वारा मारे जानेपर मुक्ति क्यों हुई? इस प्रश्नके उत्तरमें पराशर ऋषिने मैत्रेयको बतलाया है कि 'हतारि-गति-दायकत्व-गुण' अन्यान्य भगवत् स्वरूपोंमें रहनेपर भी वे अपने द्वारा मारे गये शत्रुओं को स्वर्गादिरूप सद्गति ही प्रदान करते हैं; परन्तु सर्वेश्वर श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा निहत शत्रुमात्रको ही मुक्ति दे देते हैं। उन्होंने पूतना को धात्रीयोग्या गति प्रदान की थी। उनके अलावा दूसरे भगवत्स्वरूपोंके द्वारा असुरोंकी मुक्ति नहीं होती। इसलिए जय-विजयका हिरण्याक्ष-हिरण्य-कशिपु और रावण-कुम्भकर्ण—इन दोनों जन्मोंमें श्रीनृसिंह-वराह और श्रीरामचन्द्रके द्वारा मारे जाने पर भी मुक्ति नहीं हुई, केवल जागतिक वैभवरूप त्रिलोकीका आधिपत्य मात्र प्राप्त हुआ था, परन्तु, श्रीकृष्णके द्वारा मारे जाने पर उनकी मुक्ति हुई। इसलिए शास्त्रोंमें श्रीकृष्णकी महिमाका प्रचुर कीर्तन किया गया है। विष्णुपुराणमें पहले ऐश्वर्य-साक्षा-त्कारको मुक्तिका हेतु बतलाकर पूतनादिको ऐश्वर्य-दर्शनके बिना भी मोक्षलाभ और कालनेमिको ऐश्वर्य-साक्षात्कारके पश्चात् भी मुक्तिका अभाव दिखलाकर श्रीकृष्णके परमाद्भुत स्वभावको बत-लाया है। विष्णुपुराणीय गद्यवाक्य—"अयं हि भगवान् कीर्त्तितः सांस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिल सुरासुरादिदुर्लभ फलं प्रयच्छति किमुत सम्यक् भक्ति-मतामिति।" इसका अर्थ यह है कि भगवद्द्वेषका संकल्प करके भी यदि श्रीकृष्णको स्मरण अथवा कीर्त्तन करें, तो श्रीकृष्ण सुरासुरादिदुर्लभ मुक्ति प्रदान करते हैं, और सम्यक् भक्तिमान व्यक्तिको उससे अधिक कोई विशिष्ट फल प्रदान करेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है? श्रीमद्भागवतमें नारदजी कह रहे हैं—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल-पौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलास-विलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ-
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥
(भा० ११।५।४८)

अर्थात् वैरभावको लेकर शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व आदियोंने सोते-उठते-बैठते समय श्रीकृष्णके

गति-विलास और अवलोकन आदिका चिन्तन करते-करते तद्गतचित्त होकर उनका सारूप्य प्राप्त किया था, अतएव अनुरक्त चित्तवाले व्यक्तियोंके लिए भगवत् प्राप्तिके सम्बन्धमें कहना ही क्या है ?

अतएव श्रीमद्भागवतमें जय-विजयके तीन जन्मका जो वृत्तान्त कहा गया है, उससे यही जाना जाता है कि श्रीकृष्णके द्वारा ही उनका मोक्ष सम्भव था। श्रीकृष्णका यही स्वभाव है कि उन्हें थोड़ा भी स्मरण करनेसे वे अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा चिन्ता करनेवाले व्यक्तिके चित्तको सब प्रकारसे आकर्षण करते हैं। वेण विष्णुविद्वेषी होने पर भी श्रीकृष्णविद्वेषियोंकी तरह विष्णुमें उसका आवेश न होनेके कारण एवं विष्णुमें सर्वाकर्षकत्व-धर्म न होनेसे उसकी मुक्ति नहीं हुई। इसलिए भागवतमें श्रीनारदजीके वचन हैं—

कामाद्द्वेषात् भयात् स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धात् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(भा० ७।१।३०-३१)

अर्थात् काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णमें मनोनिवेश कर बहुतसे व्यक्तियोंने भगवद्गतिको लाभ किया है। गोपियोंने कामके द्वारा, कंसने भयसे, शिशुपाल आदिने द्वेषसे, यादवोंने सम्बन्धके द्वारा, तुम लोग (युधिष्ठिरसे कह रहे हैं) स्नेह द्वारा और हम लोगोंने भक्तिके द्वारा उन्हें प्राप्त किया है। अतएव द्वेषादिके द्वारा भी श्रीकृष्णमें मनोनिवेश होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण की यह आश्चर्यजनक शक्ति अन्य अवतारोंमें देखी नहीं जाती।

इस प्रकार श्रीकृष्णकी स्वयं-भगवत्ता-प्रतिपादक बहुतसे वाक्य देखे जाते हैं। एक वाक्यके द्वारा बहुतसे विरोधी वाक्योंका समाधान हो जाता है। वेदान्त-सूत्रादिमें भी देखा जाता है कि एक महावाक्यके द्वारा बहुतसे विरोधी वाक्योंका समाधान कर महावाक्यकी स्थापना की गई है। इसलिए श्रीकृष्णतत्त्वके विचारमें उक्त रीतिके अनुसार सभी विरोधी वाक्योंका समाधान हुआ है। सभी वाक्यों की दुर्बलता और बलवत्ता ही विचारणीय है। संसारमें जिस तरह एक पराक्रमशाली व्यक्ति युद्ध-क्षेत्रमें बहुतसे व्यक्तिको पराभूत करता है, शास्त्र वाक्योंके सम्बन्धमें भी वैसा ही जानना चाहिए।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

———

श्रीगौरावतार-कथा

प्रेममूर्ति श्रीगौराङ्ग महाप्रभु ही स्वयं श्रीहरि हैं। भगवान श्रीराम-स्वरूपसे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण-स्वरूप परम मधुर हैं। श्रीगौराङ्ग महाप्रभु औदार्यमय-भगवद् विग्रह हैं। श्रीकृष्ण वदान्य हैं, परन्तु श्रीगौराङ्ग महाप्रभु महावदान्य हैं।

श्रीगौरलीला श्रीकृष्णलीलाका परिशिष्ट है। व्रजदेवियोंमें सबसे प्रधाना श्रीमती राधिकाका भाव और कान्ति धारण कर श्रीकृष्ण अपनी प्रेमरस माधुरीका आस्वादन करनेके लिये अवतीर्ण हुए थे। महानुभावी भक्तोंने उनके दिव्य अवतरणका वर्णन अनेक प्रकारसे किया है। भक्तोंके अतिरिक्त औरोंके लिये भगवानको जानना सम्भव नहीं है। उन्हीं भक्तोंकी चरण-वन्दना कर श्रीगौराङ्ग-चम्पूमें वर्णित श्रीगौरसुन्दरके अवतारका कथा-प्रसङ्ग कह रहा हूँ—

एक समय देवर्षि श्रीनारदजी आकाश मार्गसे जा रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि भूलोक पापसे भर रहा है; कलिने उसपर सम्पूर्ण अधिकार कर लिया है; साधु सज्जन बहुत क्लेश पा रहे हैं और धरतीमाता पाखण्डी लोगोंके पापके भारसे पीडित होकर रो रही है। उन्होंने दिव्य-दृष्टिसे यह भी जान लिया कि श्रीपरीक्षित् महाराजके अन्तर्द्धानके हेतु ही ऐसा हो रहा है। इतने दिनों तक उनके भयसे कलि जगतमें अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर सका था। अब तो वह निर्भय होकर अपना कार्य कर रहा है। नारदजी साधु, पृथ्वी और देवताओंके दुःखसे दुःखी होकर मन-ही-मन सोचने लगे—'दुर्मति कलिके अत्याचारको एकमात्र श्रीहरि ही दमन कर सकते हैं। उन्हें इस भूलोकमें लानेके लिये मुझे तप करना होगा। विलम्ब करनेसे साधु-सज्जन एवं पृथ्वी माताको बहुत दुःख भोगना पड़ेगा।'

उन्हें स्मरण हो आया कि श्रीवृन्दावनमें तप करनेसे श्रीकृष्ण उन पर शीघ्र ही प्रसन्न हो जायेंगे। श्रीहरिने स्वयं कहा है कि श्रीवृन्दावन धाम उनका अत्यन्त प्रिय धाम है। वहाँ अल्प तपस्या करनेसे भी वे बड़े ही प्रसन्न हो जाते हैं।

जहाँ अर्थ की प्राप्ति होती है, अधिकांश व्यक्ति वहीं बार-बार जाया करते हैं। श्रीनारदजी सोचने लगे—'श्रीवृन्दावनमें तप कर एकबार तो मुझे श्रीहरिके दर्शन मिल चुके हैं। वहाँ मेरे नामका कुण्ड (श्रीनारदकुण्ड) भी है। वहीं मैं तप करूँगा।'

वे जानते थे कि कलियुगमें तपस्या नहीं हो सकती। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतायुगमें यज्ञसे, द्वापरमें परिचर्यासे जो दिव्यगति प्राप्त होती थी, वह कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम-संकीर्त्तनके द्वारा प्राप्त होती है। नारदजीने ऐसा सोचकर हरिनाम-संकीर्त्तन करनेका संकल्प किया। हाथोंमें वीणा लिये वे इस प्रकार बड़े ही मधुर स्वरसे नाम-संकीर्त्तन करने लगे—

श्रीकृष्ण गोपाल हरे मुरारे! गोविन्द! हे नन्दकिशोरकृष्ण !।
हा यशोदातनय ! प्रसीद! श्रीवल्लवी जीवन ! राधिकेश !!॥

श्रीनारदजी कीर्त्तन करते-करते प्रेमसे कभी-

कभी अचेतन हो जाते, तो कभी नृत्य करते। लेकिन उनके हाथ वीणा पर स्थिर रहे और वीणाके भीतरसे नाम-संकीर्त्तनका स्वर सुनाई देने लगा। श्रीहरि प्रियश्रवा हैं। अपने नामका श्रवण कर उन्हें अपार आनन्द होता है। भगवानने नारदजीसे कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्रैव तिष्ठामि नारद॥

अर्थात् जहाँ भगवानका नाम-संकीर्त्तन किया जाता है, वहीं वे विराजते हैं।

भक्तवत्सल श्रीहरिने तुरन्त वहाँ प्रकट होकर श्रीनारदजीको दर्शन दिया—नवीन मेघके समान उनका श्यामल वर्ण था, उनका पीताम्बर स्थिर बिजलीको भी मात कर रहा था, सिर पर मोर पंख से सुशोभित रत्नोंसे युक्त कनक मुकुट था, ललाट पर ऊर्द्ध पुण्ड्र, कंठमें वन-माला, कटिमें किङ्किनी और श्रीपादपद्मोंमें नुपुर शोभित हो रहे थे। उन दिव्य मूर्तिका दर्शन नारदजी प्रेमसे मूर्छित हो गये। उनके नयनोंसे प्रेमाश्रुकी धारा बहने लगी। श्रीनारदजी पुनः उठकर और भी प्रेमसे नाम-कीर्त्तन करने लगे और बार-बार उनकी वन्दना करने लगे। कुछ क्षणोंके पश्चात श्रीहरि बोले-'हे देवर्षे! आप मेरे प्यारे भक्त हैं। आपकी प्रार्थनाको मैं कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ? इस समय मेरी अप्रकटावस्था होने पर भी आपको मैं दर्शन दे रहा हूँ। हे रसिकश्रेष्ठ! श्रवण कीजिये--मेरी प्रकट लीलामें थोड़े समयके लिये व्रज गोप-गोपियोंसे मेरा जो विच्छेद हुआ, उससे व्रजवासी बहुत ही विरह कातर हुए थे। इस समय अप्रकटलीलामें सदा-सर्वदा दर्शन देकर उन्हें आनन्द प्रदान कर रहा हूँ। मैं तो उनके प्रेमका बन्दी हूँ।'

श्रीनारदजी रोते रोते बोले-'हेभक्तवत्सल प्रभो! मैं कितना अपराधी हूँ; मेरी क्या गति होगी? पहले मैंने कितने ही बार आपके परम प्यारे व्रजवासियोंको दुःख दिया है और पुनः आपको और उन्हें दुःख देनेके लिये ही तपस्या कर रहा हूँ।' ऐसा कहकर नारदजी श्रीहरिकी अनेक प्रकारसे स्तव-स्तुति करने लगे।

देवर्षि की स्तुतिसे प्रसन्न होकर श्रीहरि बोले—'हे नारद! त्रिलोकीमें आपके समान मेरा और कौन प्यारा है? आप पर हितके लिये सर्वदा भ्रमण करते हैं। हे साधो! आपकी क्या इच्छा है?

श्रीनारदजी बोले—'दयामय! आप सब जानते हैं। आपको मैं और क्या बतलाऊँ? आप और पांडव लोग जब तक थे, तब तक कलि छिपा हुआ था। उसके पश्चात् श्रीपरीक्षित् महाराजके समयमें भी उसने कुछ दौरात्म्य प्रकाश नहीं किया। किन्तु उनके अन्तर्द्धानके पश्चात् उसका अत्याचार बहुत बढ़ गया है। इस समय कोई भी यज्ञ, पूजा, व्रत इत्यादि नहीं करते, और न तो कोई साधु एवं शास्त्रों को ही मानते हैं। अगर कोई कुछ दान करता है; तो वह भी केवल अपने स्वार्थके लिये। आपकी पूजा-भजन आदि भी स्वार्थके लिये किया जाता है। शुद्ध भक्तिका नाम-गन्ध तक भी नहीं है। साधु सज्जन अति कष्टमें रहकर आपका भजन कर रहे हैं। प्रभो! आप कृपा कर इन सब दुर्भागे कलिहत जीवोंका उद्धार कीजिये।'

श्रीहरि हँसकर बोले—'हे देवर्षे ! मैं पहले से ही यह सब कुछ जानता हूँ। मैं आपसे एक रहस्य की बात बतला रहा हूँ। कलियुगमें मैं स्वयं ही आविर्भूत होऊँगा। अनेक दिनोंसे मेरी एक अपूर्ण कामना है, जिसे मैं पूर्ण करना चाहता हूँ। परन्तु वह वासना बिना आश्रय जातीय भावके ग्रहण किये विषय जातीय भावके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकती। मुनिवर ! आपकी कामना मैं पूर्ण करूँगा, परन्तु मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि कहाँ मेरा अवतार हो।'

श्रीनारदजी प्रेमसे गद्-गद् होकर कहने लगे—हे दयामय नाथ ! मैं तो आपका दासानुदास हूँ। मैं आपको क्या परामर्श दे सकता हूँ ? तथापि आपकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर निवेदन कर रहा हूँ। भू-मण्डलमें नवधाभक्तिके पीठ-स्वरूप श्रीनवद्वीप धाम नामका दिव्य धाम है। वहाँ आपके बहुत से भक्तजन दिनरात बड़े प्रेमसे आपका भजन करते हैं। वही स्थान आपके अवतरणके लिये उपयुक्त स्थान है।'

श्रीहरि बोले—'देवर्षे ! आप धन्य हैं। मेरा भी यही विचार है—आपने मेरे हृदयकी बात कही है। शीघ्र ही मैं वहाँ अवतीर्ण होऊँगा। आप, शिव, ब्रह्मादि देवगण—मेरे साथ पधारें। आप मेरे इस सन्देशको सर्वत्र घोषित करें।'

यह सुनकर नारदजी जयजयकार करते हुए वहाँ से चल पड़े। ब्रह्माजी हरिदासजीके रूपमें, शिवजी अद्वैताचार्यके रूपमें, इन्द्र प्रतापरुद्रके रूपमें, देवगुरु बृहस्पति सार्वभौमके रूपमें—इस प्रकार सभी देवता प्रभुकी आज्ञासे पृथ्वी पर आविर्भूत हुए। पहले गुरुजनोंको भेजकर पीछेसे भगवान् श्रीहरि भी आविर्भूत हुए। नन्द महाराज जगन्नाथ मिश्रके रूपमें, यशोदा माँ श्रीशचीदेवीके रूपमें तथा श्रीबलरामजी विश्वरूप एवं नित्यानन्दजीके रूपमें आविर्भूत हुए। स्वयं भगवान् श्रीहरि (श्रीकृष्णचन्द) श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके रूपमें श्रीधाम मायापुरमें प्रकट हुए।

उस समय राहु चन्द्रको पास कर रहा था। इस अवसर पर लाखों नरनारियाँ भगवती भागीरथीमें स्नान कर रही थीं और सभी खूब जोरोंसे हरिध्वनि कर रहे थे। वह शब्द मानो त्रिलोकीको भेद कर रहा था। इस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीहरि अपने नामके साथ अवतीर्ण हुए। त्रिलोकी उस समय आनन्दसे भर गया और साधु-सज्जन लोग प्रेमसे उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे।

प्रेमसे बोलो कलिपावनावतारी श्रीश्रीगौरांग महाप्रभुकी जय ! श्रीनवद्वीप धामकी जय ! श्रीगौर भक्तवृन्दकी जय !

—हरिकृपादास ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

तृतीय वृष्टि (तृतीय धारा)

अनर्थ विचार

पूर्वोक्त पाँच प्रकारके भगवद्अनुशीलन ही वैध भक्तोंके लिए कर्त्तव्य कर्म हैं। उनका अनुष्ठान करने के लिए कुछ निषिद्धाचार हैं, जिनका परित्याग करना आवश्यक है। निषिद्धाचार १० हैं:—*

(१) बहिर्मुख जनसंग†, (२) अनुबन्ध, (३) महारम्भादिका उद्यम, (४) अनेक ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यावाद, (५) कार्पण्य, (६) शोक आदिके वशीभूत होना+, (७) अन्य देवताओंकी अवज्ञा×, (८) प्राणियोंको उद्वेग देना, (९) सेवापराध और नामापराध और (१०) भगवन्निन्दा और भागवत निन्दाका अनुमोदन अथवा उस विषयमें सहायक बनना।

(१) बहिर्मुख जनसंग

बहिर्मुख जन छः प्रकार हैं—(१) नीति रहित और ईश्वर-विश्वास रहित व्यक्ति, (२) नैतिक परन्तु ईश्वर-विश्वास रहित व्यक्ति, (३) सेश्वर नैतिक, जो

---

* नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्। वादवादां स्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंञ्च न संश्रयेत्॥
न शिष्यानननुबध्नीत ग्रंथान्नैव्यभ्यसेद्बहून्। न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥
([भा० ७।१३।७-८)

† सत्संगाच्छनकैः संगमात्मजायात्मजादिषु। विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥
(भा० ७।१४।४)

जिह्वंकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता। शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्॥
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥
(भा० ७।९।४०)

+ शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्। कथं तस्य मुकुन्दस्य स्फूर्तिः सम्भावना भवेत्।
(भक्ति रसामृत सिंधु)

× हरिरेव सदाराध्यो यतः सर्वेश्वरेश्वरः। इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ। नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥
(भा० १।२।२६)

ईश्वरको नीतिके अधीन मानते हैं, (४) मिथ्याचारी व दाम्भिक (वैड़ाल-व्रतिक, बक-व्रतिक आदि) व्यक्ति (क) (५) निर्विशेषवादी और (६) अल्प ईश्वरवादी।

(१) नीतिहीन निरीश्वर व्यक्ति—जो लोग नीति और ईश्वरको नहीं मानते, वे विकर्म और अकर्मोंमें संलग्न रहते हैं। नीति न माननेसे उच्छृङ्खलता अवश्यम्भावी है। इन्द्रिय सुख और स्वार्थके लिए नीति रहित निरीश्वर व्यक्तिगण जगतका बहुत ही अहित करते हैं। कोई-कोई नीतिको स्वीकार तो करते हैं, परन्तु ईश्वरको स्वीकार नहीं करते। वे अपना पक्ष समर्थन करनेके लिए ऐसा कहते हैं कि ईश्वर-विश्वासरहित नीति सर्वदा भयशून्य और कर्त्तव्यपूर्ण होती है। जिस नीतिका प्रधान अङ्ग ईश्वरके प्रति कृतज्ञता होती है, उससे वे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं।

(२) ईश्वरको नहीं माननेसे समस्त प्रकारके नैतिक विधान अकर्मण्य हो जाते हैं। इसे प्रत्यक्ष देखा और अनुभव किया जा सकता है। निरीश्वर नैतिक व्यक्ति अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिए नीतिका बलिदान करनेके लिए सर्वदा तत्पर रहते हैं। उनके चरित्रकी समीक्षा करने पर उनके उक्त मतकी अकर्मण्यता परिलक्षित होती है। जहाँ उनके स्वार्थमें व्याघात होता उस समय वे नीतिको उठाकर ताकमें रख देते हैं। श्रेणीके लोगोंको निरीश्वर कर्मी कहा जा सकता है।

(३) सेश्वर नैतिक—तीसरी श्रेणीके बहिर्मुख लोगोंको सेश्वर-कर्मी की संज्ञा दी गई है। ये लोग दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं। जो लोग नीतिमें ईश्वरके प्रति कृतज्ञ रहनेको एक प्रधान कर्तव्य मानते तो हैं किन्तु ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, यह एक श्रेणीके लोग हैं। इनके विचारसे ईश्वरकी कल्पना करके पहले उसके प्रति श्रद्धा रखने एवं पीछे नीति का फल अच्छा होने पर ईश्वर विश्वासका परित्याग करनेसे तनिक भी क्षति नहीं होती। दूसरी श्रेणीके सेश्वरकर्मी व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि ईश्वर उपासनारूप सन्ध्या-वन्दन आदि करते-करते चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि होनेसे ब्रह्मज्ञान होता है। उस समय अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने पर जीवका कुछ भी कृत्य नहीं होता। इन लोगोंके मतानुसार ईश्वरके साथ जीवोंका सम्बन्ध रेलके यात्रीके समान अल्पकालीन है, नित्य नहीं। इन दोनों श्रेणीके सेश्वर नैतिक पुरुष भक्ति-विमुख हैं।

(४) मिथ्याचारी चौथे प्रकारके बहिर्मुख लोगों की श्रेणीमें हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—वैडालव्रतिक

(क) दम्भाकान्ताश्चरन्त्यते सदाचाररता इव। स्वार्थैकसाधका ह्याढ्या मुनिवेशनटा इव॥
विस्तार्य वागुरां व्याधो मृगानाकांक्षते यथा। प्रपंच्य सत्क्रियामेवं दाम्भिका धनिनां धनम्॥
हरन्ति दस्यवोऽटव्यां विमोह्यस्त्रैर्नृणां धनम्। पवित्रैरतितीक्ष्णार्थैः प्राभेशवं बकव्रताः॥
प्रकटं पतितं श्रेयान् य एको यात्यधः स्वयम्। बकवृत्तिः स्वयं पापः पातयत्यपरानपि॥
ह्यन्धके स्थलधिया पतन्ति बहवो ननु। वैडालव्रतिकोऽप्येवं संगत्याघलाञ्छनैः॥
(नारदीये ह. भ. सु० १६।५४-५८)

और वंचित। बैडाल व्रतिकको बिल्ली भगत भी कहते हैं, अर्थात् ये लोग सुविधानुसार अपना स्वरूप बदलते रहते हैं। ये लोग वास्तवमें भक्तिकी नित्यता स्वीकार नहीं करते, किन्तु बाहरसे ऐसा भाव प्रकाश करते हैं मानो भक्ति नित्य है। अत्यन्त दूरगत स्वार्थ सिद्धिका साधन ही उनका मुख्य प्रयोजन होता है। भगवानके प्रति भक्ति करना उनका उद्देश्य नहीं होता। जब उनके मुख्य उद्देश्यकी कलई खुल जाती है तब वे सज्जन व्यक्तियोंके द्वारा तिरस्कृत होते हैं। ऐसे लोग जगतकी वंचना करते हुए संसारमें अधर्म फैलाते हैं। बहुत से निर्बोध लोग उनके बाहरी रूपका दर्शन कर उनके पथका अवलम्बन करते हैं और अन्तमें भगवद्विमुख हो पड़ते हैं। ये लोग ऊपरसे वैष्णव-चिह्न धारण करते हैं, सब समय लोगोंको दिखलाकर भगवन्नाम करते हैं, संसारके प्रति अनासक्ति दिखलाते हैं, समय-समय पर उपदेशपूर्ण बातें भी कहते हैं। परन्तु यह सब कुछ दिखलानेके लिये ही होता है। भीतर ही भीतर लुक छिपकर कनककामिनी और प्रतिष्ठाका संग्रह करना ही इनका आन्तरिक भाव होता है। ऐसे-ऐसे अपसम्प्रदाय जगह-जगहमें पाये जाते हैं।

(५) निर्विशेषवादी—इनके विचारसे भक्ति-साधनके द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर तत्वका प्रत्यक्षीकरण होता है। यह तत्व मुक्ति है। जीवका सर्वनाश ही मुक्ति है, क्योंकि जीव नाम तो जो विशेषता है, उसका नाश होने पर सब एक निर्विशेष अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं इनके विचारसे भक्ति और भगवान अनित्य हैं। दास्यबोध साधनमात्र है, फल नहीं। यहाँ पर हम इनके मतकी विशेष आलोचना नहीं करेंगे। परन्तु संक्षेपमें इतना ही कहा जा रहा है कि भक्तोंके लिये ऐसे मतावलम्बी बहिर्मुख होनेके कारण अवश्य ही परित्याज्य हैं। अन्यथा भक्तितत्व लघु हो पड़ेगा, अर्थात् ऐसे व्यक्तियोंका सङ्ग करनेसे भक्ति क्षीण हो जाती है।

(६) बहुईश्वरवादी—जो लोग बहुईश्वरोंको स्वीकार करते हैं वे एकनिष्ठ नहीं होते। इसलिये ऐसे लोगोंका सङ्ग करनेसे भक्ति-निष्ठा क्रमशः तिरोहित हो जाती है। *

वैधभक्तोंके लिये इन छः प्रकारके बहिर्मुख लोगोंका सङ्ग करना अनुचित है। किसी सभामें एक साथ बैठना, नदी पार होनेके समय अथवा रेल आदिमें यात्रा करते समय एकत्र बैठना, एक घाटपर स्नान करना अथवा बाजारमें एक साथ बैठकर क्रय-विक्रय करना—इन सबको सङ्ग करना नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्तिके साथ आन्तरिक प्रीतिके साथ परस्पर व्यवहार करनेका नाम ही सङ्ग है। + ऐसे बहिर्मुख लोगोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।

---

* यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(श्रीमद्भा. ४।३१।१४)

+ ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥

—श्रीउपदेशामृत

(२) अनुबन्ध

अनुबन्ध—वैधभक्तोंके लिये एक निषिद्धाचार है। अनुबन्ध चार प्रकारके हैं—(१) शिष्य द्वारा अनुबन्ध (२)संगीद्वारा अनुबन्ध,(३) भृत्यद्वारा अनुबन्ध,(४) बान्धव द्वारा अनुबन्ध।

धन-जन और प्रतिष्ठाके लिये अनधिकारी व्यक्तियोंको शिष्य करनेसे सम्प्रदायमें बखेड़ा फैल जाता है। अतएव उपयुक्त पात्र न होनेसे वैध-भक्त कदापि शिष्य न करेंगे। वैध-भक्तोंको शुद्धभक्तोंका ही संग करना उचित है। इसके विपरीत यदि वे विषयी लोगोंका अथवा अभक्तोंका सङ्ग करें तो उनकी भक्तिकी हानि होती है। इसलिये यदि सङ्गी न भी मिले तो वह अच्छा है, तथापि अभक्तजनों का सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिये। यदि कोई नौकर रखना भी हो, तो भक्तिपरायण व्यक्तिको ही रखना चाहिये। अन्यथा अमङ्गल होने की संभावना रहती है। किसी भी व्यक्तिके साथ नया सम्बन्ध अथवा बन्धुत्व आरम्भ करनेके पहले उसकी वैष्णवताकी परीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि उस व्यक्तिमें वैष्णवताका अभाव हो, तो उसके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये।

(३) महारम्भादिका उद्यम

अत्यन्त अधिक धनजन और तड़क-भड़कके साथ सम्पन्न होने वाले उत्सव और समारोहोंको महारम्भ कहते हैं। ये तीन अवस्थामें परित्यज्य है—(१) यदि उद्योगकर्त्ताके पास उपयुक्त धन न हो तो वह उस कार्यमें हाथ न डाले, (२) यदि जीवनका अवसान हुआ हो तो ऐसी दशामें भी बृहद्कार्य आरम्भ नहीं करना चाहिये; (३) अनेक लोगोंकी सहायताके बिना जो कार्य सम्भव नहीं है अथच ऐसी सहायता मिलनेकी कोई आशा नहीं है, ऐसे बड़े कार्यके लिये उद्यम करना कल्याणजनक नहीं होता बल्कि वह भजनमें बाधक होता है। यदि मठ, अखाड़ा, मन्दिर, आश्रम, सभा आदि बृहद्-बृहद् कार्योंके सम्पन्न करने में धन और सहायता मिलनेमें अधिक कठिनाई प्रतीत हो तो उसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

(४) अनेक ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यावाद

भक्तजन भक्तिशास्त्र, तदनुगत ज्ञानशास्त्र और कर्मशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण करेंगे। परन्तु समयका अभाव बतलाकर अनेक ग्रन्थोंके एक-एक अंशको पढ़कर छोड़ेंगे नहीं। जिस ग्रन्थको पढ़े, उसे सम्पूर्ण रूपसे पढ़े अन्यथा केवल निरर्थक इधर-उधर देखकर कुछ अंश पाठ कर अन्तमें तार्किकोंकी श्रेणीमें परिगणित होंगे। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो व्याख्या सुनकर उसका अच्छा बुरा न समझकर ही उसका प्रतिवाद करने लगते हैं। भक्तोंके लिये इस प्रकारका निरर्थक तर्क करना सर्वथा निषिद्ध है।

(५) कार्पण्य

कार्पण्यका तात्पर्य कृपणतासे है। यह तीन प्रकारकी होती है—(१) व्यवहारमें कृपणता, (२) अर्थमें कृपणता और (३) परिश्रममें कृपणता।

अभ्युत्थान और आन्तरिक प्रीतिके साथ वैष्णवोंसे व्यवहार करना चाहिये। लौकिक सम्मान

और पुरस्कारके द्वारा ब्राह्मणोंके साथ व्यवहार करना चाहिये। यथायोग्य वस्त्र और भोजन आदि देकर पास्यजनोंके साथ व्यवहार करना चाहिये। दूसरेके द्रव्योंको उचित मूल्य देकर ग्रहण करना चाहिये। कर शुल्क और दान आदिके द्वारा राजाकी सहायता करनी चाहिये। अपने प्रति उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञता-स्वीकार, दरिद्रको अन्न आदि दान, रोगियोंको औषधि-दान तथा शीतादिसे पीड़ित व्यक्तियोंको वस्त्र-दान आदिके द्वारा व्यवहार करना चाहिये। जब जगतके सभी व्यवहार-योग्य पात्र हैं, उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करनेसे कृपणताका दोष नहीं लगता। यदि घरमें कुछ न रहे तो मधुरवाणी से सबका सत्कार करना ही यथेष्ट है। किसीके साथ मधुर-वाणी द्वारा, किसीके साथ अर्थके द्वारा और किसीकेसाथ भ्रमके द्वारा—जहाँ जैसा उचित हो सद्-व्यवहार करना चाहिये। भक्तोंके लिये व्यवहारमें कृपणता करना निषिद्ध है।

(६) शोकादिके वशीभूत होना

शोक आदिके वशीभूत होना एक प्रधान दोष है। वशवर्तिता चार प्रकारके हैं—(क) शोकादिके वशीभूत होना, (ख) किसी अभ्यासके वशीभूत होना, (ग) किसी मादक द्रव्यके वशीभूत होना, और (घ) किसी कुसंस्कारोंके वशीभूत होना।

(क) शोकादिके वशीभूत होना—संसारमें वर्तमान जीवके लिये शोक, क्षोभ, क्रोध, लोभ, और मोह होनेके सैकड़ों कारण हैं। परन्तु वैध भक्तगण इन कारणोंके उपस्थित होने पर भी शोकके वशीभूत न होंगे। शोक होनेसे लघुता होती है एवं और भक्तिके अनुशीलनमें बाधा उत्पन्न होती है। इसलिये इस विषयमें सतर्क रहना उचित है।

(ख) किसी अभ्यासके वशीभूत होना—दिनमें सोना, प्रातःकालमें सोना, अकारण पान खाना, असमयमें भोजन-पान, असमयमें शौचादि गमन, उत्तम शय्यापर शयन, उत्कृष्ट सुस्वादुयोजन आदि नाना प्रकारके अभ्यासोंके वशीभूत होकर अन्तमें बड़ा दुख उठाना पड़ता है। जीवनधारणके लिये जो अत्यन्त आवश्यक हो, केवलमात्र उसे ही स्वीकार करके अनावश्यक व्यवहारोंके द्वारा अभ्यासके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

(ग) किसी मादक द्रव्यके वशीभूत होना—मादक द्रव्यका सेवन करनेसे बहुत प्रकारके अनर्थ होते हैं। विशेषतः उन द्रव्योंके वशीभूत होने पर अन्तमें भक्ति सोपाधिक हो पड़ती है। मद्य, गाँजा, अफीम, चरस, और भाँग आदि की तो बात ही क्या बीड़ी, तम्बाकू, पान इत्यादि भी वैष्णवोंके लिये सेवनीय नहीं हैं। इन मादक द्रव्योंका सेवन करना वैष्णव शास्त्रोंके विरुद्ध है। तम्बाकूका धूम्र पान करनेसे अर्थात् सिगरेट, बीड़ी इत्यादि पीनेसे जीव उसके अत्यन्त वशीभूत हो पड़ता है, यहाँ तक कि उसके लिये असत्सङ्ग करनेके लिये बाध्य होता है।*

* लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना। व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥
ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः। पशून् द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेता भूतेषु ते च तान्॥
(भा. ११।५।११,१४)

(घ) कुसंस्कारोंके वशीभूत होना—कुसंस्कारोंके वशीभूत होना एक प्रधान उत्पात है। कुसंस्कारसे पक्षपात करनेकी भावना पैदा होती है। पक्षपातकी भावना पैदा होनेपर सत्यके प्रति आदर हृदयमें नहीं रहता। + वैष्णवोचित चिन्ह आदि धारण करना वैधी भक्तिका एक अंग है। इसके द्वारा शरीरगत भगवद् अनुशीलन हुआ करता है। परन्तु तिलक आदि धारण करना ही वैष्णवका प्रधान लक्षण है, ऐसा समझना सम्प्रदाय-पक्षपात रूप संस्कार कुसंस्कार मात्र है। इस कुसंस्कारके वशीभूत होनेपर कुछ लोग वैष्णव चिन्होंसे रहित साधु-वैष्णवोंका अनादर करते हैं। फल यह होता है कि सम्प्रदायमें साधुसंग का अभाव होता है तब उक्त कुसंस्कारके वशीभूत होनेपर अन्यत्र साधुसंग लाभके लिए प्रयत्न नहीं होता। साधुसंगके बिना कल्याण नहीं होता। अतएव कुसंस्कारके वशीभूत होनेपर दूसरी जगह (दूसरे सम्प्रदायमें प्राप्त वैष्णव संग) वैष्णव संग न करने से भक्ति प्रवृत्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है। अतः यह एक भयङ्कर दोष है। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्ममें आबद्ध कुसंस्कारोंके कारण उच्च वर्णके भक्ति रहित लोग नीच वर्णमें उत्पन्न भक्तोंका संग करनेमें अपनी हीनता समझते हैं। अतएव यह भी कुसंस्कार ही है। कभी-कभी यह कुसंस्कार आत्मघाती विद्वेष की भावना भी उत्पन्न करता है।

(७) अन्य देवताओंके प्रति अवज्ञा

किसी भी देवताकी कभी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। शास्त्रोंमें देवताओंकी अवज्ञा करना निषिद्ध कार्य माना गया है*। देवता दो प्रकारके होते हैं—भगवानके अवतार विशेष और अधिकार प्राप्त जीव, भगवद् अवतार स्वरूप जो देवता हैं, उनके प्रति अवज्ञा रहित होना नितान्त कर्त्तव्य है। इस विषयमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। जो जीव भगवानकी कृपाके बलसे जगतके शासन और पालन करनेमें भगवानकी शक्ति लाभ कर देवताकोटिमें परिगणित हैं, उनकी "समशीला भजन्ति वै" इस न्यायके अनुसार असंख्य जीवगण पूजा कर रहे हैं। वैष्णवगण द्वेषपूर्वक उनकी कभी अवज्ञा नहीं करेंगे। उनकी यथायोग्य पूजा करके उनसे कृष्ण भक्ति की भिक्षा माँगनी चाहिए। किसी जीवकी भी अवज्ञा

+ ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्। त्रैवर्गिकी ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥
एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः। सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥
(भा० ११।५।१६, १७)

* सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्गुणां स्युः॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ। नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः।
रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै। पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः॥
(भा० १।२।२३, २६, २७)

नहीं करनी चाहिए । विभिन्न देशोंमें देवोपासनाके लिंग (मूर्त्ति या अन्य धार्मिक चिह्न) पूजित होते हैं, उनका सम्मान करना चाहिए । उन-उन धार्मिक मान्यता युक्त लिङ्गोंके माध्यमसे निम्नाधिकारी जीव भक्तिकी शिक्षा ग्रहण करते हैं । अतः उन लिङ्गोंकी अवज्ञा करनेसे उन निम्नाधिकारोंकी निष्ठामें ठेस पहुँचती है; साथ ही अपने भीतर ही अहंकारकी वृद्धि होती है । अकिञ्चन बुद्धि नष्ट हो जाती है । अन्तःकरण भक्तिके विराजमान होनेके लिये सिंहासन बननेके योग्य नहीं रह जाता ।

(८) प्राणियोंको उद्वेग देना

किसी भी जीवको उद्वेग नहीं देना चाहिए* । अपने भोजनके लिये किसी भी प्राणीकी हत्या करना भूतोद्वेगका कार्य है । किसीके कुकर्मों या अशुभ बातोंको लेकर इधर-उधर आन्दोलन करना, दूसरों की निन्दा, किसीके साथ कलह, दूसरोंके प्रति कटु-वचन, झूठी गवाही देना, अपने आडम्बरके लिये दूसरोंकी सुविधामें बाधक बनना—ये नाना प्रकारके भूतोद्वेगके कार्य हैं । वैधभक्त ऐसे कार्योंसे बचेंगे । परहिंसा, चोरी, परधनका अपव्यय, किसीको चोट पहुँचाना और पराई स्त्रीका लोभ आदि—ये सब कार्य भूतोद्वेगकर हैं ।

भूतोद्वेगके विषयमें कुछ विचार करना कर्त्तव्य है । जो लोग भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनके हृदयमें सब जीवोंके प्रति स्वाभाविक रूपमें दया पैदा हो जाती है । दया भक्तिसे पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है । जो वृत्ति परमेश्वरको अर्पित होनेपर भक्ति या प्रेम कहलाती है, वही विभिन्न श्रेणीके जीवोंके सम्बन्धमें मैत्री, कृपा और उपेक्षा स्वरूपा दया हो पड़ती है । यही जीवके नित्य स्वधर्मान्तर्गत भाव-विशेष है । वैकुण्ठावस्थामें केवल मैत्री और बद्धावस्थामें विभिन्न श्रेणीके पात्रोंके प्रति मैत्री, कृपा और उपेक्षारूप भावसमूह नित्य स्वरूपगत दयाके भिन्न-भिन्न परिचयमात्र हैं । सांसारिक जीवके सम्बन्धमें यह दया ही अत्यन्त संकुचित अवस्थामें स्व-शरीर-निष्ठ होती है, कुछ विकसित होनेपर अपने गृहवासी जीवनिष्ठ होती है, कुछ और अधिक विकसित होने पर स्व-वर्णनिष्ठ हो पड़ती है, कुछ और अधिक विकसित होनेपर स्वदेशवासी स्वजातिनिष्ठ हो पड़ती है, कुछ और विकसित होनेपर स्वदेशवासी सर्व-जननिष्ठ होती है, कुछ और विकसित होनेपर सर्व मानवनिष्ठ हो जाती है तथा सम्पूर्ण रूपसे विकसित होनेपर सर्वजीव निष्ठ आर्द्रभाव धारण करती है । अँग्रेजी भाषामें जिसे पेट्रियटिज्म (Patriotism) कहते हैं, वह स्वदेशवासी स्वजातिनिष्ठ भाव विशेष

---

* यद्यघभंरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः । कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ।
पशून्विधिनालभ्य प्रेतभूतगणान् यजन् । नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युत्बणं तमः ॥
(भा० ११।१०।२७।२८)

• तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् । भावमासुरमुन्मृज्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥
(भा० ७।६।२४)

है। जिसे फिलान्थ्रापी (Philanthropy) कहा जाता है, वह सर्वमानवनिष्ठ भाव विशेष है। वैष्णवगण-इन सीमाबद्ध संकुचित भावों तक ही आबद्ध नहीं रहते। उनके लिये प्राणिमात्रके प्रति उद्वेगराहित्य-रूपा सर्व जीवोंके प्रति परम आर्द्रतास्वरूपा दया ही एकमात्र वरणीय भाव है।

(६) सेवापराध और नामापराध

वैध भक्तगण सेवापराध और नामापराधसे सदैव सावधान रहेंगे। वराहपुराण तथा पद्मपुराणमें सेवापराध पाँच प्रकारके बतलाये गये हैं—(१) सामर्थ्यके रहते हुए भी यत्नका अभाव (२) अवज्ञा ३) अपवित्रता (४) निष्ठाभाव और (५) गर्व या अभिमान। श्रीमूर्त्तिसेवाके सम्बन्धमें जो सभी अपराध शास्त्रोंमें कहे गये हैं, वे सभी अपराध पूर्वोक्त पाँच विभागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। सभी अपराधोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करना सम्भव नहीं है। अतएव वराहपुराण, पद्मपुराण आदि शास्त्रोंमें जो अपराध बतलाये गये हैं, उन्हींका संक्षेपमें यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

१. सामर्थ्यके रहते हुए भी यत्नका अभाव—अर्थके रहते हुए भी श्रीमूर्तिसे सम्बन्धित नियमित धूपदीपादि न करना, सामर्थ्यके रहते हुए भी गौणोपचारके द्वारा सेवा-निर्वाह करना, जिस कालमें जो द्रव्य या फलादि प्राप्त हो, उसे यत्नपूर्वक भगवान को निवेदन नहीं करना, भगवानकी स्तव-स्तुति, वन्दना, दण्डवत्-प्रणाम आदि न करना; प्रदीपको बिना जलाये भगवन्मन्दिरमें प्रवेश करना--ये सभी कार्य सामर्थ्ययुक्त होते हुए भी यत्न नहीं करनेसे होते हैं।

२. अवज्ञा—यानारोहन या पादुका धारण कर पूजा-गृहमें जाना, श्रीमूर्तिके सामने प्रणाम नहीं करना, एक हाथ द्वारा प्रणाम, चँगुलियोंसे भगवन्मूर्त्तिको दिखलाना, श्रीमूर्त्तिके सामने प्रदक्षिण, श्रीमूर्त्तिके आगे पाँव फैलाना, पर्यङ्कबन्धनमें बैठकर स्तवपाठ करना, श्रीमूर्त्तिके सामने शयन, भोजन आदि शारीरिक कर्म करना, ऊँचे स्वरसे बातें करना, परस्पर वार्त्तालाप करना, विषयान्तरकी चिन्ता करते हुए रोदन करना, कलह अथवा विवाद, दूसरे व्यक्तियोंकी आलोचना करना, अधोवायु त्याग करना, लाए हुए वस्तुका अग्रभाग दूसरेको देकर अवशिष्ट भगवानको निवेदन करना, श्रीमूर्त्तिकी ओर पीठ करके बैठना, श्रीमूर्त्तिके सामने अन्य व्यक्तिको प्रणाम करना, अकालमें श्रीमूर्त्तिका दर्शन (उपयुक्त अवसरको छोड़कर दूसरा समय अकाल है)—ये सभी कार्य सेवा सम्बन्धी अवज्ञाके अन्तर्गत हैं।

३. अपवित्रता-उच्चिष्टलिप्त अपना अन्य किसी प्रकारके अपवित्र शरीर होकर भगवन्मन्दिरमें प्रवेश करना, पशुलोमयुक्त (कम्बलादि) वस्त्रोंको पहनकर श्रीमूर्त्तिकी सेवा करना, पूजाके समय थूकना, सेवा के समय अन्य विषयकी चिन्ता आदि नाना प्रकार की अपवित्रताओंका शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है।

४. निष्ठाभाव—भगवत्सेवाके पूर्व जल ग्रहण करना, भगवानको अनिवेदित द्रव्योंको ग्रहण करना श्रीमूर्त्ति और उसकी सेवादिका नित्य दर्शन न करना,

अपनी प्रियवस्तु अथवा कालोचित सुखाद्य फलादि द्रव्य भगवानको अर्पण न करना, हरिवासर (एकादशी या भगवानके जन्म दिनादि) का पालन न करना—ये सभी कार्य निष्ठाभावके अन्तर्गत हैं।

५. गर्व या अभिमान—सेवा करते समय अपने को अकिञ्चन भगवद् दास जानना चाहिये। ऐसा न कर अपनी प्रशंसा आप ही करना या अपनेको श्रेष्ठ पूजक मानकर अभिमान करना—सेवाकालीन गर्व है। अनेक सामग्रीद्वारा और आडम्बरके साथ श्रीमूर्त्तिकी सेवा कर अपनी महानता समझना भी गर्व है।*

इन पाँच प्रकारके सेवापराधोंसे सावधान रहकर श्रीमूर्त्तिकी सेवा करनी चाहिये। विग्रह प्रतिष्ठाता, पूजारी और साधारण भक्तोंके सम्बन्धमें ये सभी सेवापराध यथायोग्य लागू होते हैं। भजनशील व्यक्तिमात्रको ही नामापराधोंको यत्नपूर्वक दूर करना चाहिये।

नामापराध दस प्रकारके हैं—

१. सद्धुनिन्दा, २. शिवादि देवताओंको भगवान् से स्वतन्त्र समझना, ३. गुर्ववज्ञा, ४. वेदशास्त्र और तदनुगत शास्त्रोंकी निन्दा, ५. हरिनामकी महिमाको प्रशंसामात्र समझना, ६. प्रकारान्तरसे हरिनामकी अर्थ-कल्पना, ७. हरिनामके बलपर पापप्रवृत्ति, ८. अन्यान्य शुभ कर्मोंके साथ हरिनामकी तुलना, ९. श्रद्धारहित व्यक्तिको हरिनामोपदेश और १०. नाम-माहात्म्य श्रवण करके भी हरिनाममें रुचि न होना।+

१. साधु-निन्दा—नैतिक धर्मशास्त्रमें परनिन्दा मात्रको ही दोष बतलाया गया है। तथापि तात्त्विक धर्मशास्त्र अर्थात् भक्तिशास्त्रमें दोष-तारतम्य विचार-पूर्वक साधु-निन्दाको प्रधान अपराध माना गया है। जिनकी साधु-निन्दा करनेकी प्रवृत्ति है, उनको साधु-सङ्गके अभावमें भक्तिवृत्तिकी उन्नति नहीं होती। जिस प्रकार कृष्णपक्षका चन्द्र दिन प्रतिदिन क्षयको

---

* सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः। हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्विपदपांसलः॥
नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्येव स नामतः। नाम्नो हि सर्वसुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः॥
(पद्मपुराणसे)

+ सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिसकलं धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धि र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
धर्मव्रतत्यागहुतादिसर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥
श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं ममेति परमः सोऽपि नाम्नोऽपराधकृत्॥ (पद्मपुराणसे)

प्राप्त होता है, उसी प्रकार साधुनिन्दासे वैष्णवकी हृदयस्थित भक्तिवृत्तिका क्रमशः क्षय होता रहता है।१ वर्णाश्रम धर्मका उत्तमरूपसे अनुष्ठान करनेपर भी भक्तसाधुके सङ्गाभावसे और साधुनिन्दारूपी अपराधके द्वारा मानवोंके हृदयस्थित भक्तिवृत्तिका लोप हो जाता है। प्रायः देखा जाता है कि वैष्णव-निन्दारूपी अपराधसे वर्णाश्रमाचारनिष्ठ व्यक्ति क्रमशः अधःपतित होकर निरीश्वरनैतिक और अन्तमें नीतिविहीन होकर पशुकी तरह जीवन व्यतीत करते हैं। अतएव साधुनिन्दाका सर्वदा परित्याग करना चाहिये।

२. शिवादि देवताओंको स्वतन्त्र ईश्वर-ज्ञान—जो व्यक्ति शिवादि देवताको स्वतन्त्र देवता समझते हैं और भगवानको उनसे पृथक् जानते हैं, वे बहुईश्वर-वादी हैं। निष्ठाशून्य होनेके कारण ऐसे व्यक्ति भक्त कहे नहीं जा सकते। वास्तवमें परमेश्वर एक ही हैं—यही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति अज्ञानी हैं, अतएव वे अपराधी हैं। शिवादि देवताओंके नाम हरिनामसे पृथक् नहीं हैं। अतएव शिवादि देवताओंको या तो भगवदवतार-विशेष जानना चाहिये, अथवा भगवद्भक्त जानना चाहिये। यहाँ ऐसा प्रतिवाद किया जा सकता है कि शिव ही परम पुरुष हैं और विष्णु उनके अवतार हैं। अतएव शिवनाममें निष्ठा रखते हुए विष्णुनामको स्वतन्त्र नहीं जानना चाहिये। ये सभी वाद-प्रतिवाद साम्प्रदायिक तर्कमात्र हैं, अन्तमें उनसे कोई लाभ नहीं होता। एकमात्र परमेश्वरके भजनकी ही आवश्यता है। हरिनाममें निष्ठा होना आवश्यक है क्योंकि निर्गुण तत्त्व ही चरम तत्त्व है। सत्त्व, रजः और तमोगुण विशिष्ट सभी देवताओंको भगवदवतार जानकर उनके प्रति असूया रहित होकर एकमात्र निर्गुण या विशुद्ध सत्त्वगुणाधिष्ठित हरिका भजन ही करना चाहिये। वेदशास्त्र और तदनुगत शास्त्रोंके बताये गये पथको छोड़कर दूसरी कल्पना करनेसे उत्पात होनेकी ही संभावना है।

जिन-जिन शास्त्रोंमें शिव, प्रकृति, गणेश, सूर्य, इन्द्र आदि देवता उपासनाकी बात बतलाई गई है, उन उन शास्त्रोंमें उन्हें सगुण देवता या निर्गुण ब्रह्मलाभ करनेका कल्पित उपायमात्र कहा गया है।२ वैष्णव शास्त्रोंमें हरिको सच्चिदानन्द साकाररूप परमतत्त्व बतलाया गया है। हरिसेवाके द्वारा ब्रह्मलाभ होता है—ऐसा सिद्धान्त नहीं है। अतएव कल्पित देवस्वरूपकी साध्यरूपके साथ तुलना नहीं हो सकती है। शिवादि देवताओंको सिद्धस्वरूप जाननेसे अद्वैतवाद और भक्तिवाद दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। अतएव शास्त्र-परिवर्त्तन न कर देवताओंको भगवद्भक्त या गुणावतार मानना ही बुद्धिमान व्यक्तिका कर्त्तव्य है। ऐसा नहीं करनेसे नित्यसिद्ध-स्वरूपके प्रति अपराध होगा।

---

१. हरिप्रिय जनस्यैव प्रसादमरलाभतः । भावाभासोऽपि सहसा भावत्त्वमुपगच्छति।
तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमं । क्रमेण क्षयमाप्नोति खस्थः पूर्णशशि यथा॥ (भक्तिरसामृतसिन्धु)

२. येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्वितः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
(गीता ९।२३,२५)

३. गुर्ववज्ञा—गुर्ववज्ञा एक प्रधान अपराध है। जब तक साधककी गुरुमें अचला श्रद्धा नहीं होती, तब तक उनके उपदेशमें सम्पूर्ण विश्वास नहीं होगा। विश्वास न होनेसे भजनक्रियादि नहीं हो सकते। अतएव दीक्षागुरु और शिक्षागुरु सभीको ही अटल श्रद्धा करनी चाहिये। महदतिक्रम करनेकी प्रवृत्ति जिनमें प्रबला होती है, गुर्ववज्ञारूपी अपराधके कारण परमतत्त्वमें उनकी निष्ठा उत्पन्न नहीं होती।

४. वेद और तदनुगत शास्त्रोंकी निन्दा—ऋक्, साम, यजु और अथर्व—ये चार वेद और तदनुगत सभी पुराण, महाभारत, विंशतिधर्मशास्त्र और पञ्चरात्र आदि सभी सात्त्विक तन्त्रमात्र ही हरिनाम की महिमा और हरिभक्तिके माहात्म्यका कीर्त्तन करते हैं। ये सभी शास्त्र ही यथार्थ शास्त्र हैं। उनकी निन्दा करनेसे कदापि भक्तिमें उन्नति नहीं होती। उन सभी शास्त्रोंका अनादर कर जो व्यक्ति हरिभक्ति का कोई नया पथ आविष्कार करते हैं, वे क्रमशः जगतके लिये उत्पातस्वरूप हो पड़ते हैं। * नये-नये सेश्वरमत समूह ही इसके उदाहरण हैं। दत्तात्रेय, बुद्ध, ब्राह्म, थियसफिष्ट आदि मतोंकी आलोचना करनेसे यह बात स्पष्ट होती है। इसका मूल तात्पर्य यह है कि साध्यवस्तुका साधनोपाय सर्वत्र एक ही प्रकारका होता है। देश-विदेशमें भाषाभेद और व्यवहार भेदसे साधन प्रक्रिया कुछ-कुछ भिन्न होने पर भी सबका मूल तात्पर्य एक ही है। जड़ विज्ञानके द्वारा उस भेदको नहीं जाना जा सकता। वेदशास्त्र नित्य हैं। उनमें जो साधन प्रक्रिया बतलाई गई है वह सनातन है। तदनुगत शास्त्रोंमें जो जो प्रक्रियाएँ बतलाई हुई है, वे सभी वेदसम्मत प्रक्रियाएँ हैं। जो व्यक्ति दांभिकतासे चालित होकर नयी प्रक्रिया के आविष्कर्त्ता बनना चाहते हैं, और नयो मतको प्रकाशित कर चुके हैं या करेंगे, उनका मत केवल स्वकपोलकल्पित दांभिक मतमात्र है। उसमें सार नहीं होनेके कारण उस मतस्थ व्यक्तियोंकी हरिभक्ति भी उत्पातजनक हो पड़ती है।

५. हरिनाममें स्तुतिवाद—अनेक ऐसे पुण्यकर्म हैं जिनके फलसमूह अवास्तव और अनित्य हैं। ये सभी फलसमूह केवल बहिर्मुख लोगोंकी प्रवृत्तिके लिये ही बतलाये गये हैं। § कोई कोई व्यक्ति उन सब फलोंको उन उन कर्मोंकी प्रशंसामात्र समझते हैं। हरिनामकी महिमाको सुनकर अनेक भाग्यहीन व्यक्ति उसे भी प्रशंसामात्र समझते हैं। हरिनामके सभी फल ही सत्य हैं, बल्कि उसमें ऐसे ऐसे बहुतसे फल हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन नहीं किया जा सकता। जितने भी प्रकारके भजन संकेत हैं, उन सभी संकेतोंमें हरिनाम ही संक्षिप्तसारस्वरूप है। जो व्यक्ति हरिनामके माहात्म्यको प्रशंसा समझते हैं, वे अपराधी हैं।

६. प्रकारान्तरमें हरिनामकी अर्थ कल्पना—यह भी एक अपराध है। 'हरि' शब्द कहनेसे परम-

* श्रुतिस्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिं बिना। ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

§ वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(भागवत ११।३।४६)

रसाधार सच्चिदानन्द विग्रह एकमात्र श्रीकृष्णको ही समझना चाहिये। श्रीविग्रहतत्त्वको भली भाँति न समझकर कोई-कोई व्यक्ति हरिको निराकार-रूपमें चिन्ता कर 'ब्रह्म' शब्द और 'हरि' शब्दके एक ही अर्थ कर एक निराकार हरिकी कल्पना करते हैं। 'हरि' कहनेसे कृष्णको लक्ष्य करता है, इस भयसे कोई-कोई व्यक्ति हरिनाम उच्चारण करते समय 'चिदानन्द' 'निराकार' आदि गुण-वाचक शब्दोंके साथ हरिनामका उच्चारण करते हैं। यह हरिनामकी अर्थान्तरकल्पना है। यह एक प्रकारका विशेष अपराध है। जो व्यक्ति इस अपराध को करते हैं, उनका हृदय क्रमशः शुष्कज्ञान द्वारा आच्छन्न होकर रसशून्य हो जाता है।

७. नामबलपर पाप-प्रवृत्ति—हरिनामके बल पर जहाँ पाप करनेका साहस होता है, वहाँ एक भयङ्कर अपराध हो जाता है। पापप्रवृत्ति और विषयानुराग जितने ही कम होते जाते हैं, उसी परिमाणमें हरि-नाममें अनुराग भी होता है। जिन्होंने हरिनामका आश्रय ग्रहण किया है, स्वभावतः उनमें पाप-प्रवृत्ति नहीं होती। तब कोई-कोई व्यक्ति सर्वदा हरिनामकी माला हाथमें धारण किये रहते हैं और अप्रकाश्य रूपसे अनेक पापाचरण करते हैं। यह उनकी दुर्भा-ग्यजनित शठतामात्र है। कोई-कोई व्यक्ति पाप-कार्यके उपस्थित होनेपर ऐसा सोचकर कि और किसी समय हरिनामके द्वारा इस पापको दूर किया जा सकता है, अतएव इस समय अपना कार्य साधन कर लें, उस पापका आचरण करते हैं। इन सभी अपराधोंको दूर कर हरिनामाश्रय ग्रहण करना ही जीवोंका परम कर्त्तव्य है।

८. अन्य शुभ कर्मोंके साथ हरिनामकी तुलना—यज्ञ, तपस्या, योग, स्वाध्याय, वर्णधर्म, आश्रम, धर्म, आतिथ्य आदि बहुतसे पुण्य कर्म हैं। जो व्यक्ति कर्मजड़ हैं, वे हरिनामको भी एक कर्मविशेष समझ-कर उसे अन्यान्य पुण्य कर्मोंके समान मानते हैं। यह एक महान अपराध है। कहाँ अनित्यकर्म और कहाँ नित्यानन्दस्वरूप हरिनाम!

९. अश्रद्धालु व्यक्तिको नामोपदेश—जो व्यक्ति नास्तिक, नितान्त नैतिक अथवा कर्मपरायण हैं, वे उस समय तक हरिनामके अधिकारी नहीं हैं, जब तक उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। अनधिकारी और अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनाम-उपदेश प्रदान करना उपरभूमिमें बीजवपनकी तरह एक निरर्थक कर्म है। जो व्यक्ति अर्थकी लालसासे अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनाम देते हैं, वे हरिनामविक्रयी हैं। अति तुच्छ विनिमयके लिये अमूल्य रत्नस्वरूप हरिनामका विक्रय कर स्वयं हरिभजनसे च्युत होते हैं।

१०. नाम-माहात्म्य श्रवण करके भी हरिनाममें उदासीनता—जो व्यक्ति चिन्मय हरिनामकी सभी महिमाओंको सुनकर भी जड़ीय अहंता और ममता में मत्त होकर हरिनामके प्रति उदासीन रहते हैं, वे लोग अत्यन्त भाग्यहीन हैं। उनका किसी प्रकारसे मङ्गल नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति अपराधी हैं।

इन दस प्रकारके अपराधोंको दूरकर शुद्धभक्तों को भगवद् भजन करना चाहिये।

(१०) भगवन्निन्दा एवं भागवत निन्दाका अनुमोदन

वैध भक्तोंको भगवन्निन्दा और भागवतनिन्दाका

कदापि अनुमोदन नहीं करना चाहिये । यदि कहीं ऐसी निन्दा हो, तो योग्यता रहनेपर तुरन्त ही उसका प्रतिवाद करना चाहिये। जहाँ प्रतिवादका कोई असर न हो, वहाँ बधिर (मूक) व्यक्तिकी तरह रहकर उसे नहीं ग्रहण करना चाहिये। योग्यता न रहने पर उसी वक्त उस स्थानका परित्याग करना चाहिये। यदि गुरुदेवके मुखसे ऐसी निन्दा सुनी जाय, तो विनीत होकर उनसे सतर्क रहनेकी प्रार्थना करनी चाहिये। यदि वे नितान्त वैष्णवविद्वेषी हों, तो उनका तुरन्त परित्याग कर अन्य उपयुक्त व्यक्ति को गुरु बनाना चाहिये। ❀

इन दस निषिद्धिचारोंका परित्याग कर वैध-भक्तोंको पाँच प्रकारके भगवदनुशीलन द्वारा भक्ति वृक्षकी उन्नतिकी सर्वतोभावेन चेष्टा करनी चाहिये।

(क्रमशः)

श्रीमद्भागवतमें माधुर्यभाव

(वर्ष ११, संख्या ८, पृष्ठ १८० से आगे)

व्रजभूमि जीवमात्रके लिए सुखदायी है। यह अति रमणीय, परम पुनीत और दर्शनीय है एवं अपनी अलौकिक आभासे प्रकाशमान और दिव्य है। यह रासेश्वर श्रीकृष्ण और रासेश्वरी श्रीराधाका गोलोक धाम है। इसे नन्दलाल यशोदाके लाड़िले गोपाल, वृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरी गोपियों, धेनुसमूह तथा गोपमण्डलीने अपने दिव्य चरणोंसे सुषमापूर्ण और गौरवशाली बनाया है। इसीलिए सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, वैष्णवाग्रगण्य सदाशिव, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं अनेक देवता तथा वैष्णवोंने इसकी पावन रजमें लोटकर अपनेको भाग्यशाली और धन्य माना।

यहाँ की जड़-चेतन वस्तुओंमें रसिकेन्द्र श्रीकृष्ण की सतत झाँकी प्राप्त होती है। व्रजकी कुसुम समाच्छादित इठलाते भूमते भ्रमरोंकी मधुर गुञ्जारसे गुंजरित लताएँ, निर्मल नीरसे पूरित कमलदल विमण्डित सुवासित सरोवर, सौन्दर्य सम्पन्न हरित-वेषधारी निर्झरोंसे निनादित हरिदासवर्य श्रीगिरिराज एवं अन्य गिरियोंकी श्रेणियाँ और अमृतमयी रसधार प्रवाहित कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुना—ये सभी

❀ गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य त्याग एव विधीयते ॥

यो व्यक्ति न्यायरहित मन्यायेन शृणोति यः। तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम् ॥

अतएव दूरत एव आराध्यस्तादृशो गुरुः। वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्याज्य एव। अवैष्णोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्। पुनश्च विधिना सम्यक् गृह्णीयाद्वैष्णवाद्गुरोः ॥

श्रीश्यामसुन्दरके अनुरागसे रंजित हैं। इस व्रजभूमि को प्रेमस्वरूप श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु, श्रीमद्वल्लभाचार्य तथा अन्यान्य प्रेमियोंने नवजीवन देकर भावभरी रसगागरीसे इसका अभिषेक किया है। व्रजका प्रत्येक कण श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे पवित्र हुआ है। पशु-पक्षी-कीट पतङ्ग आदि श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका आस्वादन कर अलौकिक आभासे युक्त प्रतीत होते हैं। जिस व्रजभूमिमें परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णने अपनी बाल-क्रीड़ा की, रजमें लोटे, जिसे अपने चरणोंका प्रसाद दिया, और दिव्य शक्तिसे अभिषिक्त किया, उसकी महिमा सहस्रमुखोंवाले श्रीशेषदेव भी नहीं कर सकते।

संसारी मानव ऐसे दिव्य धामको छोड़कर इधर उधर क्यों भटक रहा है? जगतकी वीथियोंमें क्यों ठोकरें खा रहा है? जीवन कितना है और आयु कितनी है—इसका कोई निश्चय नहीं। मृत्यु चारों ओर घूम रही है। रोग शोक-दुःख सर्वदा पीछे लगे हैं। माया, ममता, मोह, स्वार्थ, क्रोध, लोभ आदिका फंदा गलेमें पड़ा है। यह क्या सुख है? इसमें क्या आनन्दका अनुभव होता है?

समस्त आचार्यों, गुरुओं तथा वैष्णवोंका यही कथन और सत्य अनुभव है कि प्रभुकी शरणागतिमें ही जीवोंका परम कल्याण है। हमें तन-मन-धन-जन गोविन्दके चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण हमें आनन्दामृत पिलाकर हमारा योगक्षेम वे स्वयं वहन करेंगे। उनकी प्रतिज्ञा—'योगक्षेमं वहाम्यहम्' है।

स्मरण रहे—आज नहीं तो कल यह विशाल वैभव नष्ट हो जायगा। समाज, परिवार आदि भी चिरस्थायी नहीं हैं, सुन्दर शरीर भी विकृतिका घर मात्र है, और किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। सांसारिक अपुरन्त वासनाओंकी जालसे यदि हम मुक्त होनेका प्रयास नहीं करते, तो भयानक काल एकदिन हमें निगल जायगा। उस समय हमारी क्या अवस्था होगी, हम कहाँ जायेंगे—इसका कोई पता नहीं। अतः हमें सर्वदा सावधान रहना चाहिए। 'त्राहि माँ, त्राहि माँ' कहते हुए हमें श्रीकृष्णके चरणोंको ग्रहण करना है, जहाँ पहुँचकर जीवमात्र निर्भय हो जाता है।

अतः चलिए, समयका सदुपयोग करते हुए हम सभी व्रजधाममें विचरण करें तथा श्रीकृष्णकी लीलाओंका दर्शन कर अपनेको कृतार्थ करें। यहाँ की पावन रजमें लोटकर अपनेको पवित्र करें—माधुर्य भावकी सरोवरमें अवगाहन कर अपने जीवनको सफल करें। श्रीकृष्णके लीला-चरित्रोंका गान कर भावमग्न हो जाय।

अरे! देखो, यहाँके पशु पक्षी स्तम्भित क्यों हो गये हैं? वे मौन साधकर वृक्षों पर, नदी-तड़ागोंके तटोंपर क्यों बैठे हैं? तड़ाग एवं नदियोंका जल क्यों निश्चल है? सम्पूर्ण मार्गपर पुष्प क्यों बिछे हुए हैं? इतस्ततः धूलि क्यों उड़ रही है? ज्ञात पड़ता है, यहाँसे श्रीकृष्ण गोपों, गायों तथा अपने भैया बलरामको साथ लेकर आ रहे हैं। क्योंकि यहाँ सभीके चरण-चिह्न व्रजरजमें दीख रहे हैं। एक ओरसे रसभरी बाँसुरीकी भी ध्वनि आ रही है, इसीसे सब इस प्रकार भावमग्न दिखाई देते हैं।

दूसरी ओरसे व्रजललनाओंके चरण-नूपुरोंकी और करकङ्कणोंकी ध्वनि हो रही है, उनका आपसी बात-चीत भी सुनाई दे रहा है।

चलिए, हम भी एक ओर किसी कदम्ब-पेड़की छाँह पर बैठकर इन सब लीलाओंका आनन्द अनुभव करें।

अब अन्य सब ध्वनियां बन्द हैं और केवल बांसुरीकी ध्वनि ही विशेषरूपसे सुनाई दे रही है। नटनागर श्रीकृष्ण उसमें बड़ा अलौकिक राग भर रहे हैं। उसे सुनकर एक गोपी दूसरी गोपीसे कहती है—'अरि सखि! सुन रही है न, यह उसी नन्द-दुलारेकी बांसुरीका ध्वनि है, जिसने सारे प्राणियों को जड़वत् कर दिया है, और जड़को चेतन कर दिया है। यह हमारे हृदयको व्यथित ही नहीं करती बल्कि हमें कामकी पीड़ा भी दे रही है। अभी इस ओर से ही वे अपनी गोपमण्डली और गायोंके साथ वेणु बजाते-बजाते पधारे हैं। उनके चरणचिह्न भी दिखाई दे रहे हैं। इस समय वे एक कदम्बकी छांहमें बैठे बांसुरी बजा रहे हैं। सखि! कितना सुन्दर शृङ्गार है व्रजराजका! कितना मनोहर रूप है! देखते ही बनता है। व्रजराजका दर्शन और उनकी वेणुकी ध्वनि किसे मोहित नहीं करती?'

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयो कर्णिकारं।
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्॥
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥
(भा० १०।२१।५)

जिनके शीशपर मोर-मुकुट है, कानोंमें कनेरके पुष्प हैं, शरीर पर सुवर्ण वर्णका पीतपट शोभित है, कण्ठमें वैजयन्ती माला धारण किये हैं, और जिनका नटवर-वेष है, ऐसे श्रीकृष्ण अपने अधरामृतसे बाँसुरी बजाते हुए अपने चरणोंके चिह्नसे अङ्कित रमणीय वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। पीछे पीछे गोपमण्डली उनका यशोगान करती हुई आ रही है।

सर्वचित्तहारी वेणुगीतको सुनकर सभी प्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णके चरित्रोंका वर्णन करती हुई क्षण क्षणमें भावमग्न होकर नेत्रोंको मूँदते हुए चित्तमें परमानन्द-मूर्ति भगवानका आलिङ्गन करने लगीं।

एक सखीने अपनी दूसरी सखीसे कहा—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशून्नु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्त कटाक्षमोक्षम्॥
(भा. १०।२१।७)

'हम उन्हीं नेत्रवालोंके नेत्र सफल जानती हैं, जिन्होंने ग्वालबालोंके साथ पशुओंको ले वनमें जाते हुए, वंशी बजाते हुए और स्नेहभरे कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण और श्रीबलरामके श्रीमुखोंका प्रेमपूर्वक दर्शन किया है।'

दूसरी सखी कहने लगी—

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं हृदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥
(भा. १०।२१।९)

'हे गोपियों ! इस वेणुने कैसा पुण्य किया है जो केवल गोपियोंके ही भोग्य भगवानके अधरामृत को इस तरह पी रहा है मानो हमारे लिए थोड़ा भी नहीं रहेगा। इस वेणुको अपने रससे सींचनेवाली मातातुल्य नदियाँ कमलोंकी मिससे रोमाञ्चित हो रही हैं और वृक्ष अपने वंशमें ऐसे भगवत्प्रेमीको जन्म देकर रसकी मिससे आनन्दाश्रु बहा रहे हैं।'

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्ति
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्ततत्त्वम् ॥
धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥
(भा. १०।२१।१०,११)

हे सखि ! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोकतक पृथ्वी की कीर्तिका विस्तार कर रहा है। क्योंकि यशोदा-नन्दन श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे चिह्नित होकर इसने अपार सौभाग्य लाभ किया है। जब भगवान अपनी त्रिभुवनमोहिनी मुरली बजाते हैं, तब उस नादको सुनकर मोर मत्त होकर नाचने लगते हैं। यह देखकर पर्वतकी चोटी पर विचरण-कारी सभी प्राणी अपने-अपने कार्यको छोड़कर बिलकुल निश्चल हो रहे हैं।

हे सखि ! ये मूढ़मतिवाली हरिणियाँ भी धन्य हैं जो बंशी की टेर सुनकर विचित्र वेषधारी नन्द-नन्दनको स्नेहभरी दृष्टिसे निहारती हैं। वे ऐसा अपने पति कृष्णमृगोंके समक्ष ही करती हैं। इस तरह वे श्रीकृष्णकी पूजा करती हैं और कृष्ण भी प्रेमपूर्वक उनकी ओर निरखते हैं। हमारा कितना दुर्भाग्य है कि हम ऐसा कृष्णका दर्शन नहीं कर पातीं ! हमारे पति ऐसा करनेका मौका ही नहीं देते।'

एक और गोपी कहने लगी—'श्रीकृष्णके मनोरम अनोखे वेष और अलौकिक रूपको देखकर विमानों पर जाती हुई देवाङ्गनाएँ मोहित हो रही हैं। उनके वेणुके मधुर मधुर नादोंको सुनकर अपना धीरज खोकर बेहोश हो रही हैं। उन्हें इस बातका पता नहीं कि उनकी वेणियाँ खुल गयी हैं और उनसे पुष्प गिर रहे हैं। उनके नीवियाँ भी धीरे-धीरे खिसकती जा रही हैं।'

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तमितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुचितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥
(भा. १०।२१।१३,१४)

'गायें और बछड़े भगवानके मुखसे विगलित वेणुगीतरूप अमृतका अपने ऊँचे किये हुए कानरूप पात्रोंके द्वारा पान करते हैं। उस समय बछड़ोंके मुखका दूधका घूँट और गौओंके मुखका घासका कवल मुखके मुखमें ही रह जाते हैं। वे सभी अपनी

सुधबुध खो बैठते हैं और आनन्दाश्रु बहाते हुए मन ही मन कृष्णका अलिङ्गन करते हैं।'

'अरी सखि ! इस वनके पक्षी अधिकांश ही मुनि-सदृश हैं। वे वृन्दावनके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंकी मनोहर कोपलोंवाली डालियों पर बैठकर भगवान्‌के वेणु-गानको एकटक होकर सुनते हैं और भगवान की रूप-माधुरीका निर्निमेष नेत्रसे पान करते हैं और अन्य सब प्रकारके शब्दोंको भूल जाते हैं।'

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षित मनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥
(भा. १०।२१।१५)

'चेतन जीवोंकी तो बात ही क्या ? ये नदियाँ भी उन भगवानके मधुर वेणुनादको सुनकर जलकी भँवररूपी कामतरङ्गोंसे भग्नवेग होकर अपने तरङ्ग-रूपी हाथोंसे भगवानके चरणारविन्दोंमें कमल रूपी उपहार अर्पण करती हुईं उनका आलिङ्गन करती हैं मानो उनके चरणकमलोंमें अपने हृदयको ही न्योछावर कर रही हैं।'

'हे सखि ! तेज धूपमें अपने बड़े भाई बलराम तथा ग्वालबालोंके साथ गौओंको चराते हुए मुरली बजाते हुए कृष्णका दर्शन कर मेघ उनपर पुष्प-सदृश नन्हीं-नन्हीं बूँदोंको बरसाते हुए अपने शरीर द्वारा उनकी छत्रछाया करते हैं।'

पूर्णः पुलिन्द उरुगाय पदाब्जराग
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मरजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥
(भा. १०।२१।१७)

'अरी सखी ! ये भीलनियाँ धन्य हैं ! श्रीकृष्ण का दर्शन कर इनके हृदयमें उनसे मिलनेकी तीव्र आकांक्षा जाग उठती है। उस समय वे प्रेमसे उन्मत्त हो जाती हैं। श्रीकृष्णकी प्रियतमाएँ गोपियाँ अपने वक्षःस्थलों पर जो केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दर के चरणारविन्दोंमें रतिक्रीड़ाके समय लग जाती है। जब वे उन चरणारविन्दोंको पृथ्वीपर रखते हैं, तब भूमिस्थित घास-पत्तेसे भी वह लग जाती है। उसी केसरको ये भीलनियाँ उनपरसे छुड़ाकर अपने मुखमण्डल और स्तनोंमें लगाते हैं और अपनी काम-पीड़ाको शान्त करती हैं।'

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥
(भा. १०।२१।१८)

अरी सखी ! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान् भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है। कृष्ण और बलराम के चरणकमलोंका स्पर्श पाकर असीम आनन्द प्राप्त करता है। यह गौ तथा ग्वालबालोंके सहित श्रीकृष्णका असीम सत्कार करता है। स्नान-पानके लिये झरनोंका जल देता है, गौओंके लिये सुन्दर-सुन्दर घास प्रदान करता है। विश्राम करनेके लिये कन्दराएँ और भोजनार्थ कन्दमूल-फल देता है।'

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥
(भा. १०।२१।१६)

'हे सखि ! गायोंके नेत सिरपर बाँधे, पाश कन्धोंपर डाले, गोपवेश बनकर जब ये दोनों भाई गोपोंके साथ वनमें गायोंको चराते हुए वेणुगान करते हैं, उस समय, उनके मधुर निनादयुक्त वेणु-नादको सुनकर प्राणियोंमें जो जङ्गम हैं, वे स्थावर की तरह स्थिर हो जाते हैं और वृक्षादि जो स्थावर हैं, हे रोमाञ्च आदि जङ्गमका धर्म प्रकाश करते हैं। अलौकिक वंशीके चमत्कारको और कहाँ तक वर्णन किया जा सकता है ?'

इस प्रकार वृन्दावनचारी श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुई गोपियाँ आपसमें कृष्ण-कथा प्रसङ्ग से उन्मत्त होकर मतवाली हो जाती थीं। उनके सारे गृह-कार्य छूट जाते थे। उनका मन और उनकी सभी इन्द्रियाँ गोविन्दमें ही समर्पित थीं। श्रीकृष्ण लीलाओंका गान करते-करते उनके शरीरमें स्तम्भ, स्वेद, स्वरभंग, पुलक, अश्रु कम्प, वैवर्ण्य, मूर्च्छा आदि नाना प्रकारके भावोंका प्रकाश होता था। उनका जीवन गोविन्दमय था। उनके सारे कार्य एकमात्र गोविन्दकी प्रीतिके लिये ही थे। धन्य है इन महाभागा गोपियोंको !

(क्रमशः)

—नागरीदास कृष्णचन्द्र शास्त्री, सा. रत्न. काव्यतीर्थ

भागवत-जीवन

जब असुरराज हिरण्यकशिपुने श्रीप्रह्लाद महाराजजीसे यह पूछा था कि सबसे उत्तम कार्य क्या है, उसके उत्तरमें उन्होंने कहा था—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनाम्-
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं-
गतो यदिहरिमाश्रयेत ॥ (भा० ७।५।४)

अर्थात् 'हे असुरश्रेष्ठ पिता ! मैं उस कार्यको सबसे उत्तम समझता हूँ, जिसके द्वारा देहधारी जीव संसार रूपी ज्वालासे जलते हुए उद्वेगके आगार-स्वरूप एवं आत्मघात करनेके उपयुक्त स्थानरूपी गृह-अन्धकूपको त्यागकर वनमें जाकर श्रीहरिके पादपद्मोंका आश्रय कर सकें।"

मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ है—इसे हमें भली-भाँति जानते हैं। जन्म-जन्मान्तरोंके पश्चात् इस दुर्लभ जीवनकी प्राप्ति होती है और हरिभजन करने का सुयोग केवल इसी जीवनमें प्राप्त होता है। कोटि कोटि जन्मोंसे हम लोगोंने कृष्णसे बहिर्मुख होकर भोग-वांछा की है। इसीलिए माया हमें सांसारिक

त्रितापोंसे दग्ध कर रही है। हमारी इस महान् त्रुटि को हम केवल इसी जीवनमें दूर कर सकते हैं। कृष्णका नित्यदासत्व ही जीवका स्वरूप है। परन्तु जब जीव कृष्णकी सेवासे विमुख होकर भोक्ता बनने की चेष्टा करता है, उस समय कृष्णकी सेवासे वंचित होकर जीव बहिरङ्गा शक्तिरूप मायाकी सेवा करने लगता है। यह भी व्यतिरेक रूपसे कृष्णकी सेवा ही है। इसीलिए भोक्ता अभिमान करने पर भी जीवका नित्य-कृष्णदासत्वरूप धर्म नष्ट नहीं होता। मायाकी विक्षेपात्मिका और आवरणात्मिका वृत्तियोंसे आवृत होनेपर जीव सोचता है—'मैं एक सबसे बड़ा भोक्ता हूँ, मैं स्वाधीन हूँ, मैं किसीका नौकर नहीं हूँ, मैं ही भगवान हूँ' इत्यादि। परन्तु मायाके द्वारा रचित अनेक प्रकारके आपत रमणीय वैभवोंका सेवन कर क्रमशः कृष्ण बहिर्मुख होकर जीव महान् अन्धतम नरककी ओर गमन करता है। भोक्ता बनकर जीव क्या चाहता है?—उत्तम स्त्री, उत्तम खाद्यद्रव्य, उत्तम यान-वाहन, उत्तम वासस्थान, उत्तम आसन, उत्तम वसन, उत्तम साधन और जो कुछ भी कल्पना की जा सकें। उसके द्वारा अभिलषित वस्तुएँ क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकाररूप अष्ट प्रकृति तथा पञ्च तन्मात्रायुक्त दसों प्रकारकी इन्द्रियोंके विकारमात्र हैं और यह संसार एक अत्यन्त रहस्यमय महल है। इस महलमें भोक्ताभिमानी जीव प्रवेश कर नाना प्रकारके भौतिक सुखोंको भोग करता है और चौबीस तत्त्वोंसे युक्त मायाकी ही सेवा करता है।

मायाकी आवरणात्मिका वृत्तिके प्रभावसे जीव यह नहीं जान पाता कि वह व्यतिरेक रूपसे कृष्ण की इच्छाकी ही पूर्त्ति कर रहा है, क्योंकि मायाके वैभवका मूल कारण भगवद्-विभूति है, जो भगवान की शक्तिका परिणाम मात्र है या भगवानकी अव्यक्त मूर्त्ति है। अव्यक्त मूर्त्तिकी सेवा जीवोंके लिए केवल क्लेशदायक मात्र है, इसे श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट ही कहा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२।५)

क्लेशोंका अनुभव कर जीव उनसे मुक्त होने का जो काल्पनिक प्रयास करता है वह भी मायाका वैभव होनेके कारण क्लेशदायक है। अव्यक्तकी सेवा कर जब जीव असीम कष्ट पाता है और साधु गुरु कृपासे यदि वह माया पिशाचीसे छूटनेका उपाय जान पाता है, तब ही उसका वास्तविक कल्याण होता है। उस समय वह मायाके चँगुलसे मुक्त होकर कृष्णसेवा करनेका अधिकार प्राप्त करता है। जिस परिमाणमें उसकी कृष्णसेवामें रुचि बढ़ती है, उसी परिमाणमें उसे आनन्दमय परमार्थ-जीवनका आस्वादन प्राप्त होता है। क्रमशः उसका भ्रम दूर हो जाता है, मायाका नशा भी नहीं रहता और साधु गुरुकी कृपाबलसे भक्तिके अनुकूल कार्य करने पर वह इसी जीवनमें कृष्णधाम तक पहुँचनेमें सफल होता है।

कृष्णधाम तक पहुँचनेके लिए जिस विद्याकी आवश्यकता होती है, वह विद्या सर्वश्रेष्ठ विद्या है। गीतामें उसी विद्याको राजगुह्य, राजविद्या, पवित्र

और प्रत्यक्षावगम आदि नामोंसे उल्लेख किया गया है। मायिक या जड़विद्याएँ मायाकी सेवा करनेके लिए विविध उपाय मात्र हैं। जीविका चलानेके लिए कोई व्यवसाय, कोई चिकित्सा, कोई कानून, कोई गृहनिर्माण, कोई रसायन और कोई पदार्थ सम्बन्धी विद्याओंका अवलम्बन करते हैं। कोई-कोई आसुरिक स्वभाव सम्पन्न व्यक्ति आप ही भगवान बननेकी चेष्टा करते हैं। ये सभी विद्याएँ अविद्यामात्र हैं। क्योंकि इन विद्याओंके द्वारा मायाकी सेवा अर्थात् दुःखकी प्राप्ति ही होती है इस बातको सभी अच्छी तरहसे जानते हैं कि कोई भी विद्या सीखनेके लिए कितना कठोर परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु ये सभी विद्याएँ बहुत कष्ट और परिश्रमके बाद प्राप्त होने पर भी देहके अन्त होनेके साथ-साथ ही अवमूल्य हो पड़ती हैं। यदि पुनः मनुष्यजन्मकी प्राप्ति हो, तो फिरसे परिश्रम कर इन विद्याओंको सीखना पड़ता है। किन्तु यदि मनुष्य जन्मकी प्राप्ति न हो (प्रायः जिसकी सम्भावना ही अधिक है), तो ये सभी विद्याएँ बेकार हो जाती हैं। मूर्ख व्यक्ति इन सब बातोंको नहीं समझते। मायाकी दासता करते-करते उनका मस्तिष्क इतना विकृत हो जाता है कि ये सभी बातें उनके दिमागमें प्रवेश ही नहीं करतीं। वे लोग सोचते हैं—'मैं खूब आनन्द से हूँ, खाता-पीता हूँ, लाख-लाख रुपये उपार्जन करता हूँ, घूमता-फिरता हूँ, बड़ी-बड़ी सभाओंमें भाग लेता हूँ, भगवानसे बढ़ गया हूँ, फिर मुझे किस चीजकी आवश्यकता है? मूर्ख वैष्णवोंकी तरह मरनेके पश्चात् क्या होगा, इसकी चिन्ता कर शरीरको नष्ट करनेसे क्या लाभ है?'—इत्यादि इत्यादि। परन्तु वे सब हतभागे ये नहीं समझ पाते कि मरनेके बाद भी जीवन है।

जीव नित्य वस्तु है। अतएव उसकी मृत्यु नहीं है, जन्म नहीं है, भूत-भविष्य-वर्त्तमान नहीं है, वह शाश्वत नित्य वस्तु है, एक शरीरके नाश होने पर दूसरा शरीर प्राप्त करता है—जब तक उसकी मुक्ति नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति एक वस्त्रको त्याग कर दूसरा वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीव एक देहको त्याग कर दूसरा देह प्राप्त करता है। पारमार्थिक राज्यकी इन सब प्रारम्भिक बातोंको हमने गीतामें बहुत बार पढ़ा है; परन्तु क्या हमने कभी इस बात की गम्भीररूपसे चिन्ता भी की है कि मरनेके बाद हमें कौनसा शरीर प्राप्त होगा? वह क्या मनुष्यका शरीर ही होगा अथवा सूअर आदि पशुका होगा? कोई-कोई सुविधावादी यह कल्पना करते हैं कि एकबार मनुष्य जन्म प्राप्त होनेपर पुनः मनुष्य जन्म की प्राप्ति होगी। मनुष्य शरीर मिलनेसे खूब अच्छी तरह मद्य, माँस, मछली आदिका सेवन किया जा सकता है। परन्तु यदि मनुष्य शरीरके बदले सूअर का शरीर प्राप्त हो, तो विष्ठारूपी खाद्य ही प्राप्त होगा। क्या ऐसे कार्यका दायित्व ग्रहण करना बुद्धिमान व्यक्तिका कर्त्तव्य है? मृत्युके बाद जीवन है, इसका प्रमाण समस्त वेद-वेदान्त शास्त्र और इतिहासमें प्रज्वलित भाषामें लिखा गया है। परन्तु मृत्युके बाद जीवन नहीं है, ऐसा केवल चार्वाक मुनि और उनके अनुगमनकारी नास्तिक व्यक्ति ही कहते हैं। नास्तिकता केवल वाक्चातुर्य और लोक-वंचना मात्र है, परन्तु वेद-वेदान्तके प्रमाण, गीता-भागवत के प्रमाण आदिको बड़े-बड़े राजर्षि, देवर्षि, महर्षि

और तदनुगत ब्राह्मण-पण्डित-वैष्णव सभी ने स्वीकार किया है। क्या श्रुतियोंके अकाट्य प्रमाण को त्यागकर मूर्ख व्यक्तियोंके अनुमानजनित प्रमाण को ग्रहण करना उचित है? सब प्रमाणोंमें श्रुति-प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ है। इस विचारको पूर्व-पूर्व आचार्योंने अनेकों बार स्थापन किया है, आवश्यकता पड़ने पर पुनः विचार किया जा सकता है। जो वास्तवमें बुद्धिमान हैं, उन्हें त्रिकालज्ञ सर्वभूतोंके हितैषी ऋषियोंके प्रमाणित वाक्योंको ग्रहण करना चाहिए। जीवोंका जीवन अनित्य नहीं—नित्य है, अतएव जीवोंके नित्य सुखका अनुसंधान इन श्रुति-प्रमाणोंमें पाया जा सकता है। नास्तिकोंकी बातोंकी ओर ध्यान न देकर हमें ऋषियों और महाजनोंका आदर्श ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न करने पर हम अवश्य ही विपथगामी हो पड़ेंगे।

नरदेहरूपी नौकामें चढ़कर, साधु-गुरु-शास्त्र रूप नाविक एवं कर्णधारकी सहायता पाकर और भगवद्भजनरूप अनुकूल वायु पाकर भी यदि जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप संसार-सागरसे पार होनेकी चेष्टा नहीं करते, तो हम अवश्य ही आत्मघाती हैं। समस्त वेद-वेदान्त, गीता-भागवत, पुराणादिके प्रमाणोंको विचार कर यह कहा जा सकता है कि एकमात्र परम ब्रह्म स्वयं भगवान ही उनके स्वांश, विभिन्नांश, अंश, कण, प्रकाश, स्वरूप शक्ति, माया-शक्ति आदिरूपसे अपनेको बहुत प्रकारसे विस्तार कर विलास कर रहे हैं। मायिक भोग विलासमें वर्त्तमान ताप और विच्छिन्नतारूप निरानन्द अद्वयज्ञान भगवानके चिद्विलासमें नहीं है। नित्य और निरवच्छिन्न आनन्दको प्राप्त करनेके लिए भगवानके उस चिद्विलासरूपी आनन्दमें प्रवेश करना होगा। जिस प्रकार एक धनी व्यक्ति अपने स्त्री-पुत्र-परिवार आदिके सहित भृत्य, यान-वाहनादि, गृह, उद्यान, भोजन, आच्छादन आदिका विस्तार कर अपनी शक्ति और अंशद्वारा भोगविलास करता है, ठीक वैसे ही सर्व जगतके महेश्वर षडैश्वर्यपूर्ण भगवान अपने आपको विस्तार कर भोगविलास करते हैं। जैसे किसी धनी व्यक्तिके गृहके भीतर प्रवेश करनेमें असमर्थ होकर केवल बाहरके चाकचिक्य देखकर कोई व्यक्ति उस धनी व्यक्तिके सम्बन्धमें ठीक-ठीक जानकारी नहीं कर पाता, वैसे ही भगवानकी नित्य लीला या विलास चातुर्यको न समझकर एक अल्पबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ज्योति या चाकचिक्य देखकर मुग्ध हो जाता है और वह वहीं तक रह जाता है। इसका फल यह होता है कि वह चिद्विलासमें प्रवेशाधिकार न पाकर पुनः इस मायिक भग्न—परिच्छिन्न तापकारी विलासमें आनेके लिए बाध्य होता है।

जीवमात्र ही स्वरूपतः कृष्णका नित्य-सेवक है। जब वह भगवानके चिद्विलासमें सहायता करता है, तब कहीं उसे चिद्विलासके सम्पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति होती है। जैसे धनी व्यक्तियोंके घरके नौकर-नौकरानियाँ भी सुखसे रहनेकी कई सुविधाएँ प्राप्त करते हैं, वैसे ही जीव भी भगवानकी चिद्विलासरूपी नित्यलीलामें सहयोगी बनकर नित्यानन्द प्राप्त करते हैं। अद्वयज्ञानकी भूमिकामें भगवान और उनके सेवक एकजातीय तत्त्व हैं। अतएव स्वभावतः जीव कृष्णका नित्यदास है। इसलिए जब वह भगवानकी साक्षात सेवासे वंचित होता है, तब उसे बहिरङ्गा शक्ति रूपा मायाकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती

है और वह भोक्ता बननेका मिथ्याभिमान कर माया शक्ति द्वारा प्रकटित त्रिगुणोंकी सेवा करते-करते अत्यन्त क्लेशको प्राप्त करता है। चाहे जीव भगवान की साक्षात् सेवा करें या भगवच्छक्ति जड़मायाकी सेवा करें, दोनों ही अवस्थाओंमें वह नित्य कृष्णदास है। क्योंकि भगवानकी छाया शक्ति माया और शक्तिमान-तत्त्व भगवान दोनों ही सूक्ष्म विचारमे अभिन्न तत्त्व हैं। मायाका पृथक अस्तित्व नहीं है। परन्तु भगवानकी सेवा और मायाकी सेवा एक नहीं हैं। उदाहरणके लिए जेलके भीतर भी राजाकी सेवा करनी पड़ती है और जेलसे बाहर निकलकर भी राजा की सेवा करनी पड़ती है। जेलके भीतर जो सेवा की जाती है, वह दुःखदायी है, जेलसे बाहर आकर जो सेवा की जाती है, वह आनन्दको देनेवाली है। इस आनन्दमयी सेवाको जाननेके लिए हमें कृष्णका संसार करना होगा। यदि कृष्णका संसार कर सकें, तो तुरन्त ही हमें मायाके कवलसे छुटकारा प्राप्त होगा। गीतामें इसलिए कहते हैं—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' कृष्ण-सेवामय जीवन सत्त्व, रजः और तमोगुणसे अतीत निर्गुण जीवन है। जो व्यक्ति अव्यभिचारिणी कृष्ण सेवामें लगे रहते हैं, वे समस्त मायिक गुणोंका अतिक्रम कर सर्वदा ही ब्रह्मभूतावस्थामें रहते हैं और क्रमशः पराभक्ति या केवला-भक्तिके अधिकारी बन जाते हैं। अतएव प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने गृहको भगवद् मन्दिरके समान बनायें क्योंकि भगवद् मन्दिरका वास निर्गुण वास है। निरन्तर भगवानकी अव्यभिचारिणी सेवामें नियुक्त रहने पर भगवानकी अन्तरङ्गा शक्तिके साथ हमारा सम्बन्ध हो जायगा। उन पराशक्तिकी अधीनतामें रहनेका अभ्यास करने पर उन परमपद आनन्दसमुद्र भगवानकी नित्यलीलामें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होगा।

बुद्धिमान व्यक्ति क्षणमात्र समय भी नष्ट न कर इस प्रकारका आदर्श जीवन-यापन करनेकी चेष्टा करेंगे। इस राजगुह्य-धर्मका आचरण कर व्यक्तिमात्र ही प्रत्यक्षरूपसे सदा सर्वदा सुखका अनुभव तथा आनन्द प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे। कृष्णका संसार करनेके पूर्व कृष्णके निजजन शास्त्रसिद्ध आचार्य अर्थात् सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करेंगे। प्रणिपात और परिप्रश्न करते हुए सेवानुकूलता प्राप्त कर महाजनों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर अनुगमन करेंगे। तब थोड़े ही परिश्रमसे सहज मार्गपर जा सकेंगे—जीवनमें पुनः भूल होनेकी सम्भावना न रहेगी। जो व्यक्ति महाजनोंका पदानुसरण करनेकी इच्छा रखते हैं, वे सद्गुरुका आश्रय प्राप्त करते हैं। यदि सद्गुरुके आदेशानुसार जीवन यापन कर सकें, तो कृष्णका संसार सहज ही किया जा सकता है। कृष्णके संसारमें अनाचार रहनेकी संभावना नहीं है। अनाचार अर्थात् चाय, बीड़ी, पान, तम्बाकू, माँस-मछली, अंडा, प्याज, लहसुन, अनर्थकारी क्रीड़ा, मनोरञ्जन, सिनेमा-थियेटर, ग्राम्य-चर्चा, परनिन्दा, परचर्चा—आदि सभी प्रतिकूल बातोंका परित्याग करना होगा। हमें सर्वदा इस बातका स्मरण रखना होगा कि इन अनर्थोंसे युक्त मायाजाल ही हमारे सर्वनाशका मूल कारण है। बेकारीकी समस्या भी इन्हीं सब कारणोंसे बढ़ रही है। जितने ही ये सभी अनर्थ बढ़ रहे हैं, उसी परिमाणमें वर्ण-

सङ्कटता और बेकारीकी समस्या भी बढ़ रही हैं। इसलिये अवश्य ही इन्हें त्याग करना होगा। सतर्क रहकर कृष्ण-सेवामय जीवन बनानेसे माया जालके ये सभी अनर्थ अपने आप ही दूर हो जायेंगे। इन अनर्थोंको दूर करनेकी चेष्टा ही हमारी तपस्या है। श्रीकृष्णकी सेवाके लिये उत्तमसे उत्तम खाद्य-द्रव्य संग्रह करना, श्रीविग्रह और मन्दिरादिकी सजावटके लिये उत्तम सामग्रियोंको एकत्रित करना एवं उसके लिये यथायोग्य परिश्रम करना, कृष्णके शृङ्गारादि सुन्दररूपसे कर उन्हींका दर्शन करना, आरात्रिकके समय मनोरम वाद्योंद्वारा सुन्दर कीर्तन करना, श्रीविग्रहके सन्मुख सुन्दररूपसे नृत्य करना—इत्यादि सभी क्रियाएँ कृष्णसेवाके अनुकूल कार्य हैं, अतएव मनोयोगपूर्वक इन सब कार्योंका अनुष्ठान करना चाहिये। प्रति मास विष्णु-वैष्णवोंके आविर्भाव-तिरोभाव तिथियोंका सम्मान करते हुए उत्सवादि करना और सम्भव हो तो इन सब उत्सवोंमें अपने कुटुम्बादिको निमन्त्रण कर उन्हें श्रीविग्रहका शृङ्गार दर्शन कराकर, मधुर कीर्त्तनादि सुनाकर और भगवत् प्रसादादि देकर उन्हें भी इन कार्योंमें उत्साह देना चाहिये। प्रसाद वितरणकारी और प्रसाद-सेवनकारी व्यक्तिमात्र ही वैकुण्ठके अधिकारी हैं। इसलिये इन उत्सवोंमें योगदानकारी व्यक्तिमात्र ही भाग्यवान हैं। महिनेमें दो बार एकादशी-व्रतका पालन करना चाहिये, सालमें एक दो बार भगवान्‌की लीलास्थलियोंमें जाकर साधुसङ्गमें रहकर हरिकथाका श्रवण करना चाहिये। ऐसा करने पर शरीर, मन और आत्माका एक ही साथ आनन्द-विधान होगा। मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, पुरुषोत्तम-क्षेत्र, नवद्वीपधाम, मायापुर, गङ्गा और जमुनाके निकटवर्त्ती तीर्थसमूह भक्त और भगवानके स्थान हैं। इस प्रकार अपने को और अपने परिवार को सर्वदा ही भक्ति कार्योंमें नियुक्त रखनेसे कदर्य-युक्त हेय जड़ रसके प्रति आसक्ति नहीं रहेगी। जड़ विषयोंसे आसक्तिका हटना ही जड़मुक्ति है। यह कृष्णके संसार करनेका गौण फल है। जड़ विषयोंसे रहित शुद्ध भक्तिके स्थान सभी वैकुण्ठ-लोक ही हैं। महाजनोंका भी यही करना है—'जे दिन गृहेते भजन देखि, गृहेते गोलोक भाय'। मनुष्य जीवनको सार्थक बनानेका यही एकमात्र मार्ग है। एकमात्र विष्णु-वैष्णवोंका सेवनमय जीवन ही सुखमय पारमार्थिक जीवन है और भगवानको जाननेका एकमात्र सरल उपाय है। क्षुधाके समय आहार करनेसे अपने आप ही क्षुधाकी निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। उसी प्रकार भागवत-जीवन यापन करने पर भगवत्-तत्त्वकी अनायासमें ही उपलब्धि हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमःश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत ऐतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्ति-योगतः।
भगतत्त्व-विज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

(भ. १।२।१८-२०)

हमारी सारी चेष्टाएँ कृष्णकी संसारमें प्रवेश करनेके लिये ही होनी चाहिये। शुष्क, निरस और

चिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्मवादी बननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह सरलरूपसे कृष्णका संसार करने पर इस जगतमें ही वैकुण्ठ-वास संभव है। रावणके संसारकी तरह यद्यपि आसुरिक संसार में चन्द दिनोंके लिये सुख-वैभव देखा जाता है, तथापि अन्त तक ऐसे संसारका नाश होकर रहता है और नरकका रास्ता ही साफ होता है। इस प्रकारके नरक या गृहान्धकूपका परित्याग कर सदा उद्विग्नमय जीवनको छोड़कर जो व्यक्ति वनमें गमन करते हैं या शुद्ध वैष्णवोंका पदाश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही 'साधु' हैं। जो व्यक्ति कृष्णके संसारमें वास करते हैं और जो व्यक्ति रावणके संसारको त्यागकर विष्णु-वैष्णवोंका पदाश्रय ग्रहण करते हैं, दोनों ही 'साधु' कहलाने योग्य हैं।

—त्रिदंडिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज

एकादशीव्रत-माहात्म्य

(प्राचीन वृत्तान्त)

प्राचीनकालमें नर्मदा नदीके तट पर गालव नामक एक परमतपस्वी, सत्य-निष्ठ, शान्त और संयमी मुनि रहा करते थे। वे ब्राह्मणश्रेष्ठ गालव जिस स्थानमें वास करते थे, वह स्थान नाना प्रकार के वृक्षोंसे परिपूर्ण था, नाना प्रकारके पशु-पक्षी वहाँ पर निवास करते थे, सिद्ध-गन्धर्व चारण-यक्ष तथा श्रेष्ठ मुनियों द्वारा वह सेवित था और सब प्रकारके कन्द-मूल फलादि द्वारा परिपूर्ण था। इन गालव मुनिके भद्रशील नामक एक पुत्र थे जो पूर्व जन्मके ज्ञाता, भाग्यवान, जितेन्द्रिय तथा विष्णुके परम भक्त थे। ये महामति भद्रशील बाल्यावस्थामें खेलनेके समय भी सदा-सर्वदा भगवान विष्णुकी मूर्ति बनाकर उनकी पूजा करते थे और अपने साथी अन्यान्य बालकोंको भी यही उपदेश दिया करते थे। ब्राह्मणादि वर्णोंके सभी व्यक्तियोंसे वे यही कहा करते थे कि बुद्धिमान और आत्म-कल्याणकी कामना रखनेवाले व्यक्तिमात्रको ही एकादशीका व्रत और उपवास करना चाहिए। कभी-कभी खेलते-खेलते जब एकादशी तिथि उपस्थित हो जाती थी, उस समय वे एक मुहूर्त्त अथवा आधे मुहूर्त्तका संकल्प कर भगवान विष्णुको प्रणाम करते थे।

गालव-ऋषि अपने पुत्रकी ऐसी भगवानकी भक्ति देखकर अत्यन्त चकित हुए। उन्होंने अपने पुत्रसे कहा—"हे भद्रशील! तुम अत्यन्त भाग्यवान हो। हे सुव्रत! तुम्हारे अत्यन्त उत्तम संस्कार हैं, क्योंकि तुम्हारा जैसा मङ्गलमय आचरण बड़े-बड़े योगियोंमें भी नहीं पाया जाता। तुम दिन प्रतिदिन श्रीहरिकी पूजा करते हो, प्राणीमात्रका कल्याण करते हो, एकादशी-व्रतका पालन करते हो, और प्राणीमात्र के प्रति तुम्हारी कृपा-दृष्टि है, तुम दुःसंगसे सर्वदा

दूर रहते हो, तुम अत्यन्त शान्त, संयमी और मोह-रहित हो और सर्वदा श्रीहरिके ध्यानमें आसक्त हो। इस प्रकारकी भगवद् भक्ति तुममें कैसे सहसा उदित हुई ?"

भद्रशीलने अपने पिता गालव-ऋषिके वचन सुनकर अपने जीवनकी यथार्थ घटनाएँ उनसे कहने लगे—"हे पितृदेव ! हे महाभाग ! मुझसे धर्म-राज यमने जो बातें कही थी, वे मुझे याद हैं। मैं अपने पूर्व-जन्मका वृत्तान्त जानता हूँ, अतएव मैं उन बातोंको नहीं भूला हूँ।"

मुनिश्रेष्ठ गालव अपने पुत्रके इन वचनोंको सुनकर विस्मित हुए और प्रीतियुक्त होकर इस प्रकार भद्रशीलसे पूछने लगे—"हे महाभाग ! तुम पूर्व जन्ममें कौन थे ? यमराजने तुमसे कौनसे कारण के लिए ये सभी बातें कही थीं, और क्या कहा था ?"

भद्रशीलने कहा—"हे तात ! मैं पूर्वजन्ममें धर्म-कीर्त्ति नामक चन्द्रवंशीय राजा था। भगवान दत्तात्रेय मेरे गुरु थे। मैंने नौ हजार वर्ष तक पृथ्वीका शासन किया और बहुतसे धर्मकर्मादिका भी अनुष्ठान किया। बादमें मैंने धनके अहङ्कारमें अत्यन्त मत्त होकर बहुतसे अधर्म-कार्य किये और पाषण्डी लोगोंके संसर्गसे मेरा चरित्र दूषित हो गया। हे तपोधन ! पाषण्ड व्यक्तियों संग करनेके कारण पहले जो भी मैंने पुण्यकर्म किये थे, वे सभी नष्ट हो गये। पाषण्डी लोगोंके उपदेशसे मैंने वेदमार्गका परित्यागपूर्वक कूटयुक्तिका अवलम्बन कर याग-यज्ञ-पूजादि कर्मोंको त्याग दिया। मुझे अधर्म करते देखकर मेरी प्रजाएँ भी अधर्म करने लगीं, और मुझे प्रजाद्वारा कृत अधर्मका छठवाँ भाग मिलने लगा। इस प्रकार मैं पापाचरणका अनुष्ठान करने लगा और नाना प्रकारके व्यसनोंमें डूब गया। एक समय मैं शिकार खेलनेके लिए वनमें गया। मैंने अपनी सेनाके साथ नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंका हनन किया। ऐसा करते-करते मैं भूख और प्याससे अत्यन्त पीड़ित हो गया और क्लान्त होकर रेवा-नदीके तट पर जा पहुँचा। सूर्यकी ताप से अत्यन्त तापित होकर मैंने वहाँ स्नान किया। उस समय अपनी सेनाको न देखकर मैं अत्यन्त चिन्तित हुआ और भूखसे व्याकुल हो गया।

उस समय मेरे निकट कुछ तीर्थवासी आये। मैंने देखा कि उन्होंने एकादशीका व्रत किया है। मैंने भी उन लोगोंके साथ उपवासी रहकर रैनाका परित्याग किया और रातमें जागरण किया। मैंने पथ श्रमसे परिश्रान्त होकर और भूख-प्याससे पीड़ित होकर वहीं अपना देहत्याग किया। उसके पश्चात् बड़े बड़े विकराल दन्तयुक्त भयंकर यमदूतोंने मुझे पाशके द्वारा बाँधा। वे मुझे नाना प्रकारके क्लेशोंसे युक्त पथसे यमपुरीमें ले गये। वहाँ मैंने भयंकर करालवदनसे युक्त यमराजका दर्शन किया।

यमराजने चित्रगुप्तको बुलाकर उनसे कहा—"हे महामति ! इस व्यक्तिका किस प्रकार शासन हो, यह मुझे बतलाओ।" यमराज की बात सुनकर चित्र गुप्तने बहुत देर तक विचार किया और फिर उन्होंने कहा—"हे धर्मपाल ! यह बात तो ठीक ही है कि

इस व्यक्तिने बहुतसे पाप कर्म किये हैं, परन्तु तथापि हरिप्रिय एकादशी तिथिमें उपवास करनेके कारण यह व्यक्ति सब पापोंसे मुक्त हो गया है। इसने मनोहर रेवा नदी तीरमें रात-जागरण कर इस व्रतका पालन किया है। इसलिए जो कुछ भी इसके पाप या महापाप थे, वे सभी एकादशीमें उपवास और रात-जागरण करनेके कारण नष्ट हो गये हैं।"

बुद्धिमान चित्रगुप्तकी बातें सुनकर धर्मराज यमने मेरे भयसे अत्यन्त कम्पित होकर भूमिमें गिरकर दण्डवत्-प्रणाम किया और मेरी पूजा करने लगे।

इसके पश्चात् यमराजने अपने अनुचरोंको बुलाया और उनसे कहने लगे—"हे दूतों! तुम लोग मेरी बात सुनो। मैं तुम लोगोंसे उत्तम हितकी बातें कहता हूँ। जो सभी मनुष्य धर्म-निरत हैं, उन्हें मेरे पास मत लाना। जो व्यक्ति विष्णुभक्ति परायण हैं, पवित्र और कृतज्ञ हैं, एकादशी व्रतपरायण हैं, जितेन्द्रिय हैं और 'हे नारायण! हे अच्युत! हे हरे! रक्षा करो'—इस प्रकार उच्चारण करते हैं, उन्हें परित्याग करना। जो सभी मनुष्य 'हे जनार्दन! हे कृष्ण! हे विष्णो! हे पद्मेश!' ऐसा कहते हैं, प्राणीमात्रके हितकारी हैं और शान्तिप्रिय हैं, उन्हें दूरसे ही परित्याग करना। उन सब व्यक्तियों को शिक्षा देनेका मुझे अधिकार नहीं है। हे दूतों! जो व्यक्ति हरिनाममें आसक्त हैं, पाषण्ड व्यक्तियोंके सङ्गसे दूर रहते हैं, देव ब्राह्मणमें भक्ति करते हैं, साधुसङ्गके कामी हैं, अतिथि सेवामें तत्पर हैं, प्रियत्वके कारण हरि-हरमें अभिन्नबुद्धियुक्त (सेव्य-सेवकमें अभिन्न ज्ञानयुक्त) हैं, और सभी प्राणियोंके उपकारमें रत हैं, उन्हें भी मत लाना। अधिक क्या, जिनके श्रुतियुगल सदा-सर्वदा हरिनामामृतका पान करनेके लिये लालायित हैं, अन्तःकरण नारायणकी गुण-कीर्त्ति गान करनेके लिये उत्सुक है, और धर्मात्माओंका चरणामृत सेवन करनेसे आनन्दित होते हैं, ऐसे महान व्यक्ति जिनसे प्रसन्न रहते हैं, अत्यन्त घोर पातकी होने पर भी उन्हें स्पर्श भी मत करना।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने गुरुजनोंकी सर्वदा भर्त्सना करते हैं, निखिल प्राणियोंके द्वेषकारी हैं, भगवत् भक्तोंका अनिष्ट करते हैं, देवद्रव्यमें लोभपरायण हैं और जगतका अकल्याण करते हैं, उन सब महापापियोंको और अपराधियोंको मेरे निकट लाना। जो व्यक्ति एकादशी-व्रतका पालन नहीं करते, उग्र स्वभावयुक्त हैं, दूसरे लोगोंकी निन्दा करते हैं, परदोषान्वेषी हैं, ब्राह्मण-वैष्णवोंके धन पर लोभ करते हैं, उन पापियोंको मेरे निकट लाना। जो हरिभक्तिविमुख हैं, शरणागत पालक श्रीहरिका दर्शन कर उन्हें दण्डवत्-प्रणाम नहीं करते, जो सभी मूर्ख श्रीविष्णुमन्दिरमें नहीं जाते, उन सभी अत्यन्त दण्डनीय पापिष्ठ नराधमोंको मेरे निकट लाना।"

मैंने यमराजके मुखसे ये वचन सुने हैं और इस वक्त अपने बुरे कार्योंका स्मरण कर अनुतापसे दग्ध हो रहा हूँ। इस अनुतापके प्रतापसे और धर्म की इन बातोंको सुनकर मेरे समस्त पातकसमूह सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो गये हैं। उसके पश्चात् मैंने पापसे मुक्त होकर श्रीहरिका सारूप्य लाभ किया। उस समय मेरा शरीर हजारों सूर्योंकी तरह देदीप्यमान होने लगा। उस समय धर्मराज यमने मुझे

प्रणाम किया। यमदूतोंने ऐसा दर्शन कर अत्यन्त भय प्रकाश किया और उन्हें यमराजके वचनों पर विश्वास हुआ। उसके पश्चात् यमराजने मेरी पूजा कर मुझे उसी क्षण दिव्य विमानसे विष्णुलोकमें भेजा। उस समय सैकड़ों विमान मेरे निकटसे जाने लगे। उस कर्मके प्रभावसे कोटि-कोटि विमानोंके द्वारा विष्णुलोकमें पहुँचकर कोटि-कोटि कल्प तक मैंने वहाँ वास किया। उसके पश्चात् मैंने इन्द्रलोक स्वर्गमें पहुँचकर वहाँ अनेक काल तक वास किया। इस समय मैंने इस भूलोकमें इस महान ब्राह्मण कुलमें जन्म ग्रहण किया है।

हे मुनिश्रेष्ठ! पूर्वजन्मके ज्ञाता होनेके कारण ये सभी घटनाएँ मुझे अच्छी तरहसे याद हैं। मैं पहले एकादशी-व्रतका माहात्म्य नहीं जानता था। परन्तु अब मैंने उसे जान लिया है। जब अनिच्छा-पूर्वक मैंने इस कार्यको कर यह फल पाया है, तब जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक एकादशी-व्रतका अनुष्ठान करते हैं उन्हें किस प्रकारका महान् फल प्राप्त होगा, मैं नहीं जानता। अतएव मैं परम स्थान वैकुण्ठ-प्राप्तकी इच्छासे पवित्र एकादशी व्रतका पालन करूँगा और नित्य प्रतिदिन श्रीविष्णुकी पूजा करूँगा। जो सभी मनुष्य श्रद्धापूर्वक एकादशी-व्रत का पालन करते हैं, वे परम आनन्दमय विष्णुलोक में वास करनेके अधिकारी हैं। जो व्यक्ति भक्ति पूर्वक एकादशी माहात्म्य श्रवण करते हैं, उन्हें भी यह फल प्राप्त होता है।"

गालव मुनिने अपने पुत्रके ये वचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर मन ही मन विचार किया—'मेरे कुलमें एक परमश्रेष्ठ विष्णु भक्तका जन्म हुआ है। मेरा जन्म सफल हुआ और मेरा वंश भी पवित्र हो गया।'

इस प्रकार गालव ऋषिने अपने बुद्धिमान पुत्र के द्वारा श्रीहरिपूजाके विधानादियोंका प्रचार करवाया।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्तिप्रापण दामोदर महाराज

भक्त की प्रार्थना

परम कारुणिको न भवत्परः परम-शोच्यतमो न च मत्परः।
यति विचिन्त्य हरे! मयि पामरे यदुचितं यदुनाथ! तदाचर॥

एक अत्यन्त दीनहीन भक्त भगवान से प्रार्थना करते हैं—हे हरे। आपके समान न तो कोई परमदयालु है और मुझ जैसा न तो कोई परम शोचनीय है। अतएव हे यदुनाथ! ऐसा विचार कर मेरे विषयमें जैसा आप उचित समझें, वैसा करें।

(पद्यावली से)